विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक
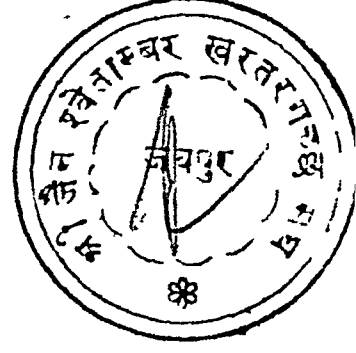
सत्यं ह्येकम् । पन्थाः पुनरस्य नैकः ।

अथेयं विश्वभारती । यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म् । प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः । एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम् । पन्थाः पुनरस्यः नैकः । विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते । प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः । द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः । एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः । सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशग्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते ।

विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। संपादक-मंडल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है जिनकी रचनायें और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त पत्र व्यवहार करने का पता :—

संपादक, 'विश्वभारती पत्रिका',

हिन्दीभवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।

विश्वभारती पत्रिका

खण्ड ७, अंक ४ जनवरी-मार्च १९६७

विषय-सूची

इस अंक के लेखक अकारादि क्रम से

कल्याणकुमार सरकार, एम०, ए०, डी० लिट् (पेरिस), अध्यापक, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा सस्कृति विभाग, विश्वभारती।

कल्याणेश्वरी वर्मा, एम० ए०, पीएच० डी०, अध्यापिका, धनबाद, बिहार।

म० म० प० गोपीनाथ कविराज, एम० ए०, डी० लिट्०, काशी।

चन्द्रशेखर, एम० ए०, अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, लायलपुर खालसा कालेज, जालधर, पजाब।

बिनोदबिहारी मुकर्जी, कलाकार तथा कला समीक्षक, अध्यक्ष, कलाभवन, विश्वभारती।

रामकिशोर मौर्य, एम० ए० पीएच० डी०, शोध विभाग, क० मा० मुशी हिन्दी विद्यापीठ, आगरा।

रामसिंह तोमर, हिन्दी विभागाध्यक्ष, विश्वभारती।

विद्याधर व्यक्टेश वझलवार, अध्यापक, सगीत भवन, विश्वभारती।

विश्वनाथ भट्टाचार्य, एम० ए०, पीएच० डी० (मारबुर्ग), सस्कृत विभाग, विश्वभारती।

सत्यव्रत, एम० ए०, एम० ओ० एल०, पीएच० डी०, व्याकरणाचार्य, रीडर सस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

सुधीरञ्जन दास, भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश, उच्चतम न्यायालय, भारत, तथा विश्वभारती के भूतपूर्व उपाचार्य।

मैत्री

शिल्पी—नन्दलाल वसु

विश्वभारतीपत्रिका

पौष-फाल्गुन २०२३ खण्ड ७, अंक ४ जनवरी-मार्च १९६७

कविता*

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

हे भुवन,
आमि यतक्षण
तोमारे ना वेसेछिनु भालो
ततक्षण तव आलो
खुँजे खुँजे पाय नाइ तार सब धन।
ततक्षण
निखिल गगन
हाते निये दीप तार शून्ये शून्ये छिल पथ चेये ॥

मोर प्रेम एल गान गेये;
की ये हल कानाकानि,
दिल से तोमार गले आपन गलार मालाखानि।
मुग्ध चक्षे हेसे
तोमारे से
गोपने दियेछे किछु या तोमार गोपन हृदये
तारार मालार माझे चिरदिन रबे गाँथा हये ॥

२८ पौष, १३२१ (१९१४ ई०)
सुरूल

*बलाका से

छाया

हे भुवन,
मैं ने जबतक
तुमको नहीं चाहा था
तबतक तुम्हारे प्रकाश ने
बहुत खोजने पर भी अपना सम्पूर्ण धन नहीं पाया था।
तब तक
निखिल गगन
हाथ में दीप लिए अनंत शून्य में अपना पथ जोह रहा था।

मेरा प्रेम गान गाता हुआ आया,
क्या कानाफूसी हुई,
तुम्हारे गले में उसने अपने गले की माला डाल दी।
मुग्ध चक्षु से हँसकर
तुमको उसने
अकेले में कुछ दिया है जो तुम्हारे हृदय में छिपा है
तारों की माला में चिरदिन गुथा रहेगा॥

रवीन्द्रनाथ और बलाका

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

[प्रस्तुत निबन्ध १३३३ बंगाब्द (१९२६ ई०) में काशी से प्रकाशित 'उत्तरा' नामक बंगला पत्रिका की दो संख्याओं में प्रकाशित हुआ था। इसके प्रकाशित होते ही महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की साग्रह दृष्टि इसके प्रति आकर्षित हुई थी। वे इसे पढ़ कर विशेष प्रसन्न हुए थे और उन्होंने ऐसी आशा प्रकट की थी कि श्रीकविराज जी इस प्रकार के और भी आलोचनात्मक निबन्ध लिखेंगे। कविराज जी के साहित्य संबंधी निबंधों का संग्रह 'साहित्य चिन्ता' नामसे प्रकाशित हुआ है। प्रस्तुत निबन्ध किसी हद तक अपूर्ण है, किन्तु जिस प्रकार प्रकाशित हुआ था, उसी का अविकल अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है। —संपा०]

मनुष्य का पूर्व इतिहास क्या है? जो अहंता उसके भीतर विकास प्राप्त है अथवा विकासोन्मुख है उसका प्रथम उन्मेष भी जब लक्षित नहीं हुआ था तब वह कहां था? वह कौन सी अवस्था है? उसका स्वरूप क्या है? कवि कहते हैं—वह अव्यक्त पद है, वहां मैं—तुम का भेद नहीं है, अभेद भी नहीं है। जहां आलोक नहीं है, अन्धकार भी नहीं है, किसी भी प्रकारका द्वन्द्व नहीं है उसका मानवीय भाषा में वर्णन नहीं किया जा सकता। वह अनन्त अज्ञात है जहां अपने में स्वयं मग्न, ज्वार-भाटा के अतीत, संकोच-प्रसार के ऊर्ध्व में, शुभाशुभ के ऊपर वह नित्य-पूर्ण रहस्य सदा विराजमान है, वहां दुःख नहीं, आनन्द भी वहां नहीं खेलता, वायु वहां नहीं बहती, काल का स्रोत भी वहां निस्तब्ध है, आधार-शक्ति वहां विलीन है। 'नाहि रात्रि-दिन मान आदि-अन्त परित्राण, से ऊतले गीत गान किछु नाहि बाजे'। उस चिर नीरव गम्भीर प्रशान्ति-समुद्र में न जाने किस अनिर्वचनीय स्वभाव की प्रेरणा से एक दैव मुहूर्त में स्पन्दन उठा।

जैसे ही स्पन्दन उठा वैसे ही अव्यक्त गर्भ में से 'मैं' का उदय हुआ। 'मैं' उठा 'तुम' भी उठा—अव्यक्त रूप में भगवान् अप्रकाश हैं, अहन्ता के साथ-साथ वे स्वप्रकाश हुए। जब तक वे अपने में स्वयं डूब कर एकाकी रहते हैं तब तक अपने को भी देखते नही हैं अथवा जानते नहीं हैं। यह एक प्रकार की निद्रा है। इसका भंग ही उनका आत्म परिचय वा आत्मबोध है, 'मैं' की उत्पत्ति है। साथ-साथ महाशून्य में आनन्दमयी ज्योतिर्मयी सृष्टि की धारा रहती है—

येदिन तुमि आपनि छिले एका,
आपनाके तो हय नि तोमार देखा

*

आमि एलेम, भागलो तोमार घूम
शून्ये शून्ये फूटल आलोर आनन्दकुसुम। (वलाका २९)

[जिस दिन तुम स्वयं अकेले थे तब तो तुम अपने को नहीं देख पाये थे। 'मैं' आया, तुम्हारी निद्रा टूटी, शून्य में आलोक का आनन्द कुसुम खिल उठा।]

इसलिए एक हिसाब से कहा जा सकता है कि 'मैं' ही उसके स्वरूपगत नित्यानन्द के आस्वादन का साधन है। मधु में माधुर्य रहने पर भी यदि उसका सम्भोग न हो अथवा होने की सम्भावना न हो तो उसे 'मधुर' विशेषण देना निरर्थक है। उसी प्रकार अनन्त और पूर्ण वस्तु आनन्दस्वरूप होने पर भी जब तक उस आनन्द का आस्वादन नहीं होता, तब तक उसकी रस वस्तु के रूप में धारणा करना सम्भव नहीं। उपनिषद् में है 'स एकाकी नारमत, तस्मात् द्वितीयमसृजत्' इत्यादि। एक अनन्त अद्वितीय सत्ता के बीच जब तक स्वगत से द्वितीय का स्फुरण नहीं होता, तब तक यह सत्ता स्वयं अपने पास परिचित नहीं हो सकती। तब तक वह चैतन्य नाम के अयोग्य है। आदि तत्त्व के साथ इस नवोदित द्वितीय का जो लीला विलास है, वही आनन्द रूपा सृष्टि धारा का उत्स है यही संक्षेपतः सच्चिदानन्द भाव का रहस्य है। यह जो नवोद्गत 'द्वितीय' है, कवि की भाषा में यही 'मैं' है। यह द्वितीय होने पर भी अनन्त से उद्भूत होने के कारण उससे अभिन्न है, क्योंकि वह पूर्ण वा अनन्त सत्ता ही 'मैं' भाव से प्रकाशमान है—'मैं' उसी का आत्मप्रकाश है। उस अखण्ड विशुद्ध 'मैं' के निकट पूर्ण सत्ता उद्बुद्ध होकर जिस प्रकार प्रकाशित होती है वही 'तुम' है। अनन्त ही 'मैं' रूप में आविर्भूत होकर 'तुम' रूप में भासमान अपना निरीक्षण करता है। जगत् के जितने 'मैं' हैं सब इस विराट् 'मैं' के ही व्यष्टि रूप हैं। तद्वत् 'तुम' भी जगत् में वस्तुत एकाधिक नहीं है, सभी दृश्य और ज्ञेय पदार्थों के अन्तरंग में वह एकमात्र अखण्ड 'तुम' ही विद्यमान है।

'मैं' जीव है, 'तुम' ईश्वर है,—दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं। जब है तब दोनों हैं, न रहने पर कोई भी नहीं हैं। एकमात्र अज्ञात रहस्य अपने बीच स्वयं गोपन है।

अव्यक्त रूप महासमुद्र के मथित होने पर जब इस प्रकार जीवेश्वर विभाग होता है तब सृष्टि का विकास होता है, पृथ्वी पर स्वर्ग का जन्म होता है, उस शुभ मुहूर्त में अनन्त के गर्भ से अनन्त निहित पूर्ण सौन्दर्य और पूर्ण कल्याण के रूप में वह अव्यक्त आत्मप्रकाश करता

है। एक (सौन्दर्य) का काम है तपस्या भंग करना, नवजात जीव को उन्मना बनाना, नववसन्त की मदिरा के स्पर्श से उसका प्राण-मन आकर्षित करके उसे निरन्तर विक्षिप्त करना—

एकजन तपोभंग करि
उच्चहास्य-अग्निरसे फाल्गुनेर सुरा पात्र भरि
निये याय प्राण–मन हरि—
दु हाते छड़ाय तारे वसन्तेर पुष्पित प्रलापे
रागरक्त किंशुके गोलापे, निद्राहीन यौवनेर गाने॥ (बलाका २३)

[एक जन (सौन्दर्य) तपोभंग करके, उच्च हास्य सहित अग्नि-रस से फाल्गुन का सुख पात्र भर कर, प्राण-मन का हरण करके ले जाता है वह प्राण-मन को दोनों हाथों से बिखेर देता है, वसन्त के पुष्पित प्रलाप में। राग-रूप किंशुक में, गुलाब में, निद्राहीन यौवन के गान में]

भीतर से बाहर ठेलकर चारोंओर बिखेर देना ही इसका काम है। यह सौन्दर्य स्वर्ग की अप्सरा है, विश्वकामना का श्रेष्ठ धन है ! द्वितीय (कल्याण) का काम है विक्षिप्त प्राण-मन को समेट लाना एवं शोक-दुःख के मंगलमय स्पर्श से वासना को संयत और शीतल करके जीव को सफलता और शान्ति दान करना और जगत् के साथ उसका आनन्दमय योग सूत्र प्रतिष्ठापित करना। यह मंगलमूर्ति पूरे विश्व की जननी रूपा है, स्वर्ग की अधीश्वरी है। इसी के कल्याणमय प्रभाव से जीव जीवन-मरण के अतिपवित्र संगमस्थल पर अनन्त के पूजा मन्दिर में स्थानलाभ करना है—

आरजन फिराइया आने, अश्रुर शिशिर स्नाने
स्निग्ध वासनाय ;
हेमन्तेर हेमकान्त सफल शान्तिर पूर्णताय ;
फिराइया आने।
निखिलेर आशीर्वाद पाने
अचञ्चल लावण्येर स्मितहास्यसुधाय मधुर। (बलाका २३)

[दूसरा जन (कल्याण) लौटा कर लाता है, स्निग्ध वासना को अश्रु के शिशिर में स्नान कराने। हेमन्त का हेमकान्त (कल्याण) सफल शान्ति की पूर्णता में लौटा लाता है ; निखिल के आशीर्वाद की ओर ले आता है। वह अचञ्चल लावण्य के स्मित-हास्य की सुधा से मधुर है।]

सौन्दर्य चञ्चल और शोभामय है, कल्याण स्थिर लावण्यमय है, सौन्दर्य उग्र है, कल्याण

स्निग्ध है, सौन्दर्य मे वासना और कामना का उद्दीपन होता है, कल्याण में उसका उपशम होता है—एक का प्रवाह अन्तर से बाहर की ओर है, अभेद से भेद की ओर है, दूसरे का प्रवाह बाहर से अन्तर की ओर है, भेद से अभेद की ओर है। बहिर्मुखी शक्ति के खिंचाव से जीव क्रमागत निष्फलता की ओर दौड़ता रहता है, अन्तर्मुखी शक्ति उसे गोद मे लाकर प्रशान्ति और सिद्धि दान करती है। दोनो ही अनन्त की शक्तियाँ हैं—अव्यक्त रूप योग-निद्रा के भंग से जब स्पन्दमयी विराट् महाशक्ति का विक्षोभ और चलन होता है तब 'मैं' 'तुम' रूपी स्वप्रकाशमय लीलामय भेदाभेदभाव के प्रकाश के साथ साथ ही महाशक्ति की अन्तर्गति और बहिर्गति अभिव्यक्त होती है। तब पहले स्वभाव के नियम से बहिर्गति ही जागती है, उसके बाद अन्तर्गति विकसित होती है।

अतएव जीव जब जीव रूप में जाग उठता है तभी ही भगवान् से उसका विच्छेद प्रारम्भ होता है। यह विच्छेद ही सृष्टि का आदिम रूप है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि अनन्त की विच्छेद शक्ति से ही 'मैं' भाव का प्रादुर्भाव होता है। इसीलिए जब काल स्रोत में सर्व प्रथम 'मैं' को अस्फुट आलोक में तैरते देखता हूँ तभी इसे असहाय और विरही पाता हूँ। अवश्य तब वह अपनी असहायता और विच्छेद के सम्बन्ध में सजग नहीं हुआ है, जीव का यह विच्छेद भी अति विचित्र व्यापार है, यह ऐकान्तिक नहीं है। क्योंकि भगवान् आत्मगोपन करके जीव के साथ सदा ही वर्तमान हैं। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि अनन्त की मिलन शक्ति से ही 'मैं' वा जीव भाव का उद्भव होता है। वास्तविक बात यह है कि विरह शक्ति और मिलन शक्ति कुछ पृथक नहीं हैं। अव्यक्तावस्था में अहन्ता का कोई चिह्न नहीं था, इसीलिए तब मिलन वा विरह कुछ भी नहीं था। जब वहाँ 'मैं' का उदय हुआ तब ऐसी एक अवस्था का आविर्भाव हुआ जिसे विरह भी कहा जा सकता है, मिलन भी कहा जा सकता है। वस्तुत यह दोनों का बीज भाव मात्र है। जीव के साथ प्रच्छन्न भाव से भगवान् हैं किन्तु उसका बोध जीव में नहीं है।

इस बोध का आविर्भाव ही जीव का क्रम-विकास है। जीव-भाव समग्र विश्व मे फैल जाता है, रूप रूपान्तर मे, जन्म-जन्मान्तर मे सम्पूर्ण वैचित्र्य का भेद करके उसे मनुष्य भाव तक उठना होता है। समग्र विश्व ही जीव का उत्थान-सोपान है, किन्तु मनुष्य-भाव में न आने तक अहन्ता परिस्फुट होकर व्यक्तित्व के रूप मे परिणत नहीं होती। व्यक्तित्व जागने के साथ-साथ अव्यक्त, अज्ञात स्वरूप भगवान् की स्मृति जाग उठती है। याद आता है, पता नहीं क्या उसका कुछ था, पता नहीं क्या मानो खो गया है, मानो उसी के अन्वेषण में वह अनादि काल से निरुद्देश यात्रा पर दौड़ता हुआ निकला है।

इसीलिए मनुष्य भाव में ही जीव का प्रथम विरह जागता है। अवश्य ही प्रथम ही जागता है ऐसा नहीं, कितने जन्म कट जाते हैं, कितनी अवस्थाओं पर अवस्थाएँ अतिवाहित हो जाती हैं,—एकदिन हठात् विलास-मण्डप में आराम की शय्या पर वैराग्य की रागिणी बज उठती है, चिर परिचित के बीच अपरिचित का आकर्षण प्रबल होकर दिखाई देता है, सम्पूर्ण अपरिचित के बीच भी चिरकाल का परिचय् आत्मप्रकाश करता है। अतुल ऐश्वर्य के उपकरण तब बुभुक्षित मानव-हृदय की क्षुधा-निवृत्ति करने में समर्थ नहीं होते। इस अनन्त सुषमापूर्ण धरणि की श्यामल शोभा, आकाश की कमनीय नीलकान्ति, ग्रह-नक्षत्र की उज्ज्वलता, शरत् का सूर्योदय, वसन्त का पूर्णिमा निशीथ—सभी उसके हृदय में अभाव जगा देते हैं, सभी उसे स्मरण करा देते हैं कि वह प्रिय विरहित है। प्रकृति का विचित्र संगीत सुनते-सुनते उसका चित्त उदास हो उठता है, इस प्रकार उसका विच्छेद-बोध प्रथम आविर्भूत होता है। किन्तु किसका विच्छेद है, इसे वह नहीं समझ सकता। क्रमशः यह विच्छेद-वेदना गभीर से गभीरतर आकार धारण करती है, किन्तु विच्छेद का विषय तब भी पकड़ में नहीं आता। 'अचोन्हा पक्षी' अचीन्हा ही रह जाता है, सहस्र परिचय के बीच भी अपरिचय का अवगुण्ठन बिलकुल उत्तोलित नहीं होता। कितनी बार कितने प्रकार से कितने रूपों के बीच विद्युत् की आकस्मिक चमक की भांति जीव क्षण भर के लिए अरूप का दर्शन पाता है अवश्य, एवं कह उठता है—

ज्योत्स्ना निशीथे पूर्ण शशीते,
देखेछि तोमार घोमटा खसिते
आँखि'र पलके पेयेछि तोमाय लखिते। (उत्सर्ग ६)

[ज्योत्स्ना-रात्रि में, पूर्ण शशी में तुम्हारा घूँघट सरकते मैंने देखा है। आँखकी पलक में तुम्हें लख पाया हूँ]

किन्तु क्षणभर बाद ही वह समझ लेता है कि 'अधरा' (अधार्य) को 'धरना' (पकड़ना) सम्भव नहीं, पकड़ने की चेष्टा वृथा है।

तवू संशय जागे, धरा तुमि दिले कि (वही)
[तब भी संशय जागता है—तुम पकड़ में आए क्या ?]

वह ठीक से देख नहीं पाता। सब सत्य है। वह शत शृंखलाओं से शतधा विजड़ित है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी इस जीव को देखने के लिए, पाने के लिए, वक्ष पर चिपटाने के लिए भगवान् की व्याकुलता की सीमा नहीं है।

आमार चोखे लज्जा आछे, आमार बुके भय।
आमार मुखे घूमटा पड़े रय।
देखते तोमाय बाधे ब'ले पड़े चोखेर जल,
ओगो आमार, प्रभु,
जानि आमि, तवू
आमाय देखबे ब'ले तोमार असीम कौतूहल,
नइले तो एइ सूर्यतारा सकलि निष्फल॥ (बलाका २९)

[मेरी आंखो मे लज्जा है और हृदय मे भय। मेरे मुख पर घूँघट पडा रहता है। इससे तुम्हे देखने मे बाधा होती है, इसलिए आख से पानी गिरता है। हे मेरे प्रभु! फिरभी मे जानता हूँ कि मुझे देखने के लिए तुममें असीम कौतूहल है, नहीं तो यह सूर्य, तारा सभी निष्फल है।]

एक वाक्य मे कहना चाहे तो जिस दिन अव्यक्त के गर्भ से इस अहन्ता रूप जीव भाव ने जन्म लिया है उसी दिन से निष्पन्द वक्ष मे कम्पन उठा है, द्वन्द्वातीत महाशान्ति के ऊपर आनन्द और वेदना की लहर चली है, वसन्त के सचार से, प्राण की उत्कण्ठा सजीव हो उठी है, सक्षेपत अनन्त-अरूप ने 'मैं' रूप में सुख दुख के भीतर से अपना परिचय प्राप्त किया है।

आमि एलेम, कापल तोमार बुक,
आमि एलेम, एलो तोमार दुख,
आमि एलेम, एलो तोमार आगुनभरा आनन्द,
जीवन-मरण-तूफान-तोला व्याकुल वसन्त।
आमि एलेम, ताइ तो तुमि एले,
आमार मुखे चेये आमार परश पेये आपन परश पेले॥ (बलाका २९)

[मैं आया, तुम्हारा वक्ष काप उठा। मैं आया तुम्हारा दुख आया। मैं आया, तुम्हारा अग्नि-भरा आनन्द आया। जीवन-मरण तूफान लाने वाला व्याकुल वसन्त आया। मे आया, इसीलिए तो तुम आए। मेरे मुख की ओर देख कर मेरा स्पर्श पाकर तुमने अपना स्पर्श पाया।]

मनुष्य का ऐसा क्या वैशिष्ट्य है जिसके लिए अनन्त ऐश्वर्य के अधीश्वर को भी उसके पास भिखारी बनकर हाथ पसारना पडता है? मनुष्य का प्रकृत गौरव कहा है? दीन-हीन अकिञ्चन का ऐसा क्या 'गुप्तधन' है जिसका सन्धान पाकर सम्राट भी उसे पाने के लिए व्याकुल

हो उठते हैं। अन्य जीवों में वह नहीं है क्या? इसका उत्तर यही है—जगत् के सभी जीवों में यद्यपि अहन्ता न्यूनाधिक परिमाण में वर्तमान है तथापि वह विश्व-प्रवाह का वेग अतिक्रम करके परिस्फुटता का अवलम्बन लेकर व्यक्तित्व के रूप में परिणत नहीं हुआ है। एकमात्र मनुष्य में ही उसे व्यक्तित्व के रूप में विकसित होने की योग्यता प्राप्त हुई है। जिस दिन मनुष्य की वह स्वरूपयोग्यता वास्तव में विकसित होती है वह दिन मनुष्य का बड़ा शुभ दिन है। उसी दिन से उसके नव जीवन का सूत्रपात होता है।

यह जो व्यक्तित्व है यह भी भगवान् का दान है। अन्य जीवों को उन्होंने वह नहीं दिया है। अवश्य ही, उनमें से सभी को उन्होंने कुछ न कुछ दान किया है। एक जन को जो दिया है, दूसरे को वह नहीं दिया है। जिसको जो दिया है वह उसी को लेकर उनको सेवा किया करता है, अन्यथा नहीं करता, कर भी नहीं सकता, किन्तु इस सेवा से भगवान् की तृप्ति नहीं होती। क्योंकि इसमें स्वातन्त्र्य नहीं है, केवल अन्ध नियम की अनुवर्तिता मात्र है, एकमात्र, मनुष्य ही भगवद् दत्त व्यक्तित्व की महिमा से इस नियम की शृङ्खला को काट कर उठ सकता है। उसका यही गौरव है कि वह सचमुच भगवान् को ऐसा कुछ दान कर सकता है जो उसका नितान्त ही निजस्व है, जो उसके प्राप्त धन की अपेक्षा अधिक है। जो मिलता है उसे अपना बना कर फिर से उसको समर्पण करना इसी में पाने की सार्थकता है। अन्य किसी जीव में इस प्रकार 'ममत्व' द्वारा निजस्व बनाने की कामना नहीं है, इसीलिए और किसी का भी निजस्व नहीं है। वे लोग जो पाते हैं ठीक ठीक वही लौटा देते हैं—उसको बढ़ाने या उसका रूपान्तर करने में असमर्थ होते हैं।

* पक्षी ने गान पाया है, उसीको वह स्वभावतः दान करता है। मनुष्य ने पक्षी की भांति गान नहीं पाया है, स्वर पाया है, किन्तु उस स्वर को तोड़ मरोड़ कर वह गान की रचना करके उसे समर्पित करता है। वायु ने स्वाधीनता पाई है, वह (स्वाधीनता) स्वभावतः ही उनका भृत्य है। मनुष्य को उस स्वाधीनता का अर्जन करना पड़ता है। उसे उन्होंने शत बन्धनों से बद्ध किया है, किन्तु मृत्यु के बीच से वह उस बन्धन-भार में से एक-एक का त्याग करता चलता है और अग्रसर होता रहता है, इसी क्रम से ऐसा दिन भी आता है, जब वह बन्धन हीन होकर रिक्तहस्त बनता है,—मुक्त होता है। तब उसे स्वाधीन भाव से सेवा करने का अधिकार मिलता है। यह स्वाधीन सेवा ही प्रेम की सेवा है—इसी में मनुष्य का गौरव और भगवान् की तृप्ति है। पूर्णिमा हास्यमय है, सुख-स्वप्नमय है— वही उसका

---

* बलाका २८।

स्वभाव है। इसीलिए वे स्वभावत आनन्दरस का वितरण करते हैं। किन्तु मनुष्य को उन्होंने दुःख दिया है। रोते-रोते मनुष्य उस दुःख को आनन्द मे परिणत करता है और मिलन के समय वह आनन्द भगवान् को निवेदित करके जीवन सार्थक करता है। यह ससार स्वभावत सुख-दुःखमय है—मनुष्य का यह कर्तव्य है कि इस ससार का वह भगवान् के लिए स्वर्ग रूप मे गठन करे, उसके हाथ खाली है अवश्य, किन्तु उस शून्यता के अन्तराल में प्रच्छन्न रूप मे भगवान् हँस रहे हैं। इन शून्य हाथो से ही मनुष्य स्वर्ग रचना मे समर्थ होता है।

बड़े दुःख के भीतर से मनुष्य का व्यक्तित्व फूट उठता है। जो जिस मूल धन को पाता है उसकी भित्ति पर अपना विशिष्ट रूप से गठन करता है। तब वह स्वाधीन होता है और स्वाधीन भाव से भगवान् को प्रेमदान करता है। यह प्रेमदान अमूल्य है—यह उपहार एक मात्र मनुष्य के पास ही उन्हे मिल सकता है। इसी के लिए वे कगाल है। यही मनुष्य का 'गुप्तधन' है। जो अतुल सम्पत् के अधिकारी है, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड मे जिनका अक्षुण्ण प्रताप अलङ्घ्य प्राकृतिक विधान के रूप मे अप्रतिहत भाव से विराजमान है, जिनके मणिमय मुकुट की एक-एक छटा से असख्य चन्द्रसूर्यों का उद्भव हुआ करता है, जिनके कटाक्ष-पात से कितने कितने जगत् का सृष्टि-सहार कालसमुद्र मे बुद्बुद के उत्थान पतन की भाँति धारावाहिक रूप से निरन्तर चल रहा है, वे भी अपने रत्नमण्डित राजसिहासन से उतर कर इस मधुर रस के लोभ से मधुलुब्ध भृङ्ग की भाँति मनुष्य की जीर्ण पर्णकुटीर में अतिथि भिखारी के वेश में उतर आते हैं।

असीम धन तो आछे तोमार
ताहे साध ना मेटे।
निते चाओ ता' आमार हाते
कणाय कणाय बेंटे। (गीतिमाल्य)

आर सकलेरे तुमि दाओ।
शुधु मोर काछे तुमि चाओ
आमि याहा दिते पारि आपनार प्रेमे,
सिंहासन हते नेमे
हासि मुखे वक्षे तुले नाओ
मोर हाते जाहा दाओ
तोमार आपन हाते तार वेशि फिरे तुमि पाओ॥ (बलाका २८)

[तुम्हारे पास तो असीम धन है, किन्तु उससे तुम्हारी साध नहीं मिटती। तुम उसे मेरे हाथ से कण-कण बांट कर लेना चाहते हो, और सब को तुम देते हो, केवल मेरे पास से तुम चाहते हो। मैं अपने प्रेम से जो कुछ दे सकता हूँ। तुम सिंहासन से उतर कर सहास्य मुख से उसे उठाकर छाती से लगा लेते हो। मेरे हाथ में जो कुछ देते हो, उससे अधिक तुम वापिस अपने हाथ में पाते हो।]

जिस दिन मनुष्य के हृदय में भगवत् प्रेम का जन्म होता है उसी दिन भगवान् के साथ उसका माल्यपरिवर्तन होता है, मिलन होता है। इस मिलन का घटक है प्रेम, प्रेम ही जीव और भगवान् के हृदय को अच्छेद्य योगसूत्र से बाँध कर रखता है।

जो अपरिचित है उसे क्या मनुष्य प्यार कर सकता है? नहीं तो क्या? जो अचीन्हा है उसी को तो प्यार किया जाता है, क्योंकि उसकी सीमा देखी नहीं जा सकती, इसीलिए उसके बीच प्रेमिक का हृदय स्वाधीन भाव से सञ्चरण करने का अवकाश पाता है। जहां सीमा दिखाई देती है वहां प्यार नहीं रहता—जो रहता है वह केवल माया की शृङ्खला है, इन्द्रिय की पिपासा है। किन्तु सीमा के बीच जब असीम आत्मप्रकाश करता है तब सीमाबद्ध वस्तु भी सीमा खो बैठती है और प्राण का आकर्षण करती है। असीम अपरिचित है—जीवन के प्रति मुहूर्त में वह परिचित हो रहा है अवश्य, किन्तु उस परिचय का अन्त नहीं है। यह जगत् शत परिचय के बाद भी अपरिचित ही रह जाता है, इसकी चिरनवीनता कभी भी म्लान नहीं होती, किन्तु फिर भी यह प्राण को मोहित करता है।

असीम की सीमा नहीं है—सीमा के बीच भी उसकी सीमा ढूँढ़े नहीं मिलती, इसीलिए उसको पहचानना किसी भी काल में शेष नहीं होता, हो नहीं सकता। जीव नित्य नवीन परिचय के बीच उसे प्राप्त करता है। अनन्तकाल इसी प्रकार चलता रहता है।

पहचानने का अन्त नहीं है, यह ठीक है, किन्तु फिर भी पहचाना जाता है। मनुष्य जो कुछ चाहता है, मनुष्य का मनःसृष्ट मनुष्य, उसकी साधना का धन, जीवन का आदर्श, आकांक्षित प्रेम और सौन्दर्य की छवि अव्यक्त भाव से अनन्त के वक्ष में छिपी रहती है। युग के बाद युग कट जाते हैं, कितने-कितने जन्म बीत जाते हैं, कितनी कठोर तपस्या, कितनी हाय हाय, कितना अन्वेषण करके भी वह उसे नहीं पाता। किन्तु हठात् एक-दिन अकल्पित रूप से वह उसके हृदयाकाश में खिल उठता है। तब वह युगव्यापी साधना और परिश्रम उस निमेष के दर्शन से ही सार्थक हो जाता है। उस एक निमेष की हँसी उसकी चिर-आशा की सफलता है।

अचीन्हें को चीन्हने के लिए ही जीवन की साधना है। अचीन्हा भी पकड़ में आने के

लिए व्याकुल है। दुःख के रूप में, मृत्यु के रूप में वही तो आता है। कठोरता की मूर्ति धारण करके वह प्रकाश पाता है। हृदय के द्वार रुद्ध करके अहमिका के घनान्धकार में मनुष्य सोया रहता है। उस द्वार को तोड़ कर निर्मम भाव से अहङ्कार को चूर्ण करके भगवान् की कृपा हृदय में उज्ज्वल भाव से आविर्भूत होती है। तब हृदय आलोकित होता है, बन्धन हट जाता है, मलिनता और भय दूर हो जाते हैं, नवीन जीवन संचारित होता है, प्राचीन संस्कार नष्ट हो जाते हैं।

दुःख ही भगवान् के आत्म प्रकाश का प्रकृत निदर्शन है। 'तुमी जे आछो वक्षे धरे, वेदना ताहा जानाक् मोरे'—(तुम जो मुझे छाती से चिपटाए हुए हो यह बात वेदना मुझे समझाए—)। दुःख ही जना देता है कि भगवान् नित्य ही जीव के साथ हैं, उसे आलिङ्गन किए हुए हैं। दुःख की मात्रा उनके आत्मप्रकाश को ही निविड़ता है। जब जीव सुख में रहता है, तब उसे बहुत बच कर रहना होता है, क्योंकि स्वेच्छाचार के वशवर्ती होकर यदि चलने जाय तो ऐसी सम्भावना रहती है कि वे (ईश्वर) विरक्त हो जाएं। किन्तु जब वे जीव को दुःख में डालते हैं, आघात करते हैं तब फिर सावधानता का प्रयोजन नहीं रहता। तब बन्धन कट जाता है, स्वाधीनता का उदय होता है। जो प्रबल आत्माभिमान जीव को शतश्रृङ्खलाओं से जड़ित करके रखता है उसके विलुप्त होने के साथ साथ जीव मुक्त हो जाता है, छुट्टी पा जाता है, तब—'देवार नेबार पथ खोला डाइने बांये' (देने लेने का पथ दाहिने बाएं खुला रहता है)।

तब समग्र जगत् जीव को बुलाता रहता है—सभी उसका प्यार छुड़ा देते हैं। जीव तब अपनी कल्पित गंडी के बीच आबद्ध नहीं रह सकता, दुःख दैन्य, भय घोर अन्धकार में असीम अनन्त मृत्यु सागर में कूद पड़ता है। क्षुद्र प्यार ही माया है, उसमें जीव बद्ध होकर भूला रहता है, किन्तु जब वह माया को काटकर बाहर निकल पड़ता है, जब वह लाञ्छित, अपमानित, निःसंग है, तब फिर उसका बन्धन कहां? तब वह वात्याताड़ित, उद्दाम वैशाखी मेघ की भांति दौड़ता रहता है, 'अपने तेज में', 'एकाकी', अनादर के खुले रास्ते पर चलता रहता है, किन्तु यह अनादर ही वस्तुतः भगवान् की 'चरण धूलि का रंगीन समादर है।

जीव जीव भाव से जन्मग्रहण करके केवल अपनी गर्भधारिणी को ही देख पाता है—बाहर का विश्व उसकी दृष्टि में नहीं पड़ता, भगवान् का विराट् रूप वह नहीं देख पाता। भगवान् का आदर (दुलार) आवरण-विशेष है, इसका सम्भोग करने में प्रवृत्त होकर ही तो जीव भगवान् को भूल जाता है, उन्हें जान नहीं सकता। दुःख, कष्ट, आघात—इस आवरण को तोड़ कर चैतन्य का संचार करते हैं। विच्छेद बोध प्राण को जगाता है। धक्का

खाकर दूर आने पर ही जड़ता और मोहनिद्रा स्वभाव के नियम से ही कट जाती है, तब भगवान् की कृपा दृष्टि में पड़ती है।

इसीलिए दुःख उनके अनुग्रह का निदर्शन है यह स्वीकार करना ही होगा। यह ठीक ज्वार के जल की भांति, उन्हीं से स्वतः ही उच्छ्वसित होकर आता है। आकर सौन्दर्य-मण्डित इस जगत में सर्वत्र उनका ही आभास दिखा देता है। तब जल में, स्थल में, नभः स्थल में सर्वत्र ही उनकी पुकार सुनाई देती है। दक्षिणपवन, नव वसन्त की वनश्री, मेघमुक्त नीलाकाश—सब उन्हीं की पुकार हैं! इस प्रकार से आकृष्ट होकर जीव घर छोड़ कर बाहर निकल पड़ता है,—मरण-पथ में, मुक्तिपथ में, अपने को लुटाने के पथ पर धावमान होता है। बाद में उनका—साक्षाद् दर्शन लाभ होने पर बन्धन का मूल कारण निवृत्त हो जाता है।

जीव वधू है—प्राण प्रिय भगवान् मृत्यु रूप में, सर्वनाशी के रूपमें उसके पास वर बनकर आते हैं। घोर विपद्, आशा भङ्ग, निष्फलता ये सब उनके ही रुद्र-भाव में आविर्भाव के चिह्न हैं। जीव का कर्तव्य है—उन्हें पहचान कर, उन्हें सर्वस्व समर्पण करके वरण कर लेना। कुछ भी गोपन रखने से नहीं चलेगा। तब अहंकार चूर्ण होगा, उन्नत मस्तक उन चरणों में नत होगा, फिर घरमें सुख निद्रा का उपयोगी निष्पन्द प्रदीप नहीं जलेगा। किन्तु उससे भय का कोई कारण नहीं है। तब घर प्रबल वात्या की ताड़ना से पुनः पुनः कम्पमान होगा, किन्तु उससे भी चिन्ता क्या है? निर्भीक हृदय से, अटल विश्वास से अदम्य धैर्य से बाहर निकलना होगा—मुक्तपथ पर चलना होगा। गम्य स्थान का निर्देश नहीं रहेगा, तब भी चलना होगा, अपना आराम कुञ्ज टूट गया, इस लिए खिन्न होने से नहीं चलेगा। समझना होगा, यह टूटना कारा-भञ्जन है—इसका फल मुक्ति है। शृङ्खला टूटने पर दुःख किस बात का?

> बाहिर पाने छोटे ना, सकल दुःख सुखेर शेषे गो।
> [सब दुःख-सुख के अन्त में, बाहर की ओर, दौड़ना होता है न?]

सच मुच ही देह छोड़ने पर देहात्म बोध वा अहङ्कार निवृत्त होने पर सुख-दुःख नहीं रहता। देह हो घर है, कारा-घर, उसके साथ जो कुछ संश्लिष्ट है वह भी वैसा ही है। इसके जाने पर सुख भी जाता है, दुःख भी जाता है—'अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः' (छान्दोग्य उपनिषत् ८, १२, १)। वही मुक्ति है—'बहिर दौड़ना'।

सुतरां जीवन का आदर्श आराम वा शान्ति नहीं है—स्थितिशीलता नहीं है। भगवान् से आराम चाहने जैसी लज्जा की बात और क्या है? जिस दुःख में उनका ही जय-जयकार

होता है, गौरव घोषित होता है, अपनी पराजय होती है, अहंकार चूर्ण होता है, वह दुख ही तो प्रार्थनीय है। जीव अपने मिथ्या कर्तृत्वाभिमान में अन्ध होकर, बद्ध होकर प्रकृत कर्ता वा प्रभु को भूल गया है। घर में आराम-शय्या पर गर्वसुख अनुभव कर रहा है। जो उसका चिर दिन का साथी है, जीव उसकी ओर फिर दृष्टि निक्षेप नहीं करता। इसी लिए भगवान् दया करके उसपर आघात करते हैं—यह घर, अहङ्कार तोड़ने के लिए, उसे रुला कर 'पथ का पथिक' बनाने के लिए। दुख के पीडन से वह जितना ही रोता है, उतना ही भगवान् का गौरव और महत्त्व उसके पास प्रकाशित होता है। जीव की यह क्रन्दन-ध्वनि ही उनकी शङ्खध्वनि है—जयनिर्घोष है। जब यह शङ्ख धूलि पतित रहता है, तब घर में मुक्त वायु का सचार नहीं होता। विमल आलोक का उच्छ्वास खेल नहीं पाता—यह अवसाद की अवस्था है, इसे छोडकर मगल के पथपर अग्रसर होना है। पूजा की आकाङ्क्षा, शान्ति की तृष्णा, हृदय-क्षत की निवृत्ति की आशा, दृष्टवस्तु की अङ्कलिप्सा—इन सभी को निर्भय भाव से त्याग कर अग्रसर होना होता है, फिर से नवयौवन मे नवीन उद्यम से कार्य के प्रति जाग्रत् होकर प्रवृत्त होना होता है, प्रकृति के नियम से गभीर निशीथ में ही यह उद्बोधन कार्य सम्पन्न हुआ करता है। तब यह धूलिपतित शङ्ख उत्थित होता है और पुन पुन ध्वनित हुआ करता है। चक्षु से निद्रा का आवेश कट जाता है, वक्षःस्थल पुन पुन आहत होता है, दीर्घश्वास चलता रहता है—ये सब इस शङ्खध्वनि की बाह्य अभिव्यक्ति हैं। इस अवस्था में जीव को सर्वदा रणवीर वेश मे रहना होता है। तीव्र आघात से भी चाञ्चल्य अथवा शैथिल्य उत्पन्न न हो सके इस ओर ध्यान रखना होता है। समग्र शक्ति, समग्र ऐश्वर्य उन्हे समर्पित करके उनकी जय और अपनी पराजय स्वीकार करनी होती है, यही शङ्ख की जयध्वनि है। जब तक अहङ्कार बिलकुल निरुद्ध नहीं होगा तब तक यह सग्राम निवृत्त होने का नहीं है। अहङ्कार के अवसान में सग्राम विरत होता है। तब जीव दीन, सर्वस्व हीन, अकिञ्चन पथ का कगाल बन कर अभय-पथ मे पदार्पण करता है। भगवान् का अभय शङ्ख ग्रहण ही जीवन का आदर्श है (बलाका, ४)।

इसीलिए दुःख का प्रत्याख्यान नहीं करना चाहिए। करने से ही उसका महान् उद्देश्य निष्फल हो जाता है। इस दुख के वेश में ही जीव के पास भगवान् का प्रकाश अनेक बार हुआ करता है, किन्तु जीव उसकी अभ्यर्थना न करके बार-बार उसे लौटा देता है। जीवन की प्रथम ऊषा में उनका आविर्भाव होता है, उनके सगीत से जीव की सुख-सुप्ति टूट जाती है, किन्तु सुखमुग्ध जीव को वह अच्छा नहीं लगता। यौवन के सचार से प्राण में जब प्रेमवृत्ति जाग उठती है, तब प्रेम के भिखारी होकर वे आते हैं, किन्तु जीव समझता है कि यही कार्य

का व्याघातकारक है। इसलिए उसका प्रत्याख्यान कर देता है। तब भी वे आते हैं। मृत्यु दूत के रूप में, अस्पष्ट दुःस्वप्न की भांति मशाल जलाकर वे फिर से आते हैं। जीव समझता है, डाकू आया, शत्रु आया। तुरन्त हृदय के द्वार रुद्ध कर देता है।

इस प्रकार बहुत बार वे आते हैं। किन्तु हृदय का द्वार खुला न पाकर लौट जाते हैं। हृदय का द्वार रुद्ध करके जीव अन्धकार में बैठा रहता है, क्रमशः समय घिर आता है, सब दीप बुझ जाते हैं, आशा टूट जाती है, चारों ओर अकूल अंधेरा घेरा डाल लेता है, तब जीवन में अपने आपको बड़ा ही एकाकीपन लगता है। प्राण में अभाव बोध होता है, केवल उसीके लिए, जिसका प्रत्याख्यान किया गया है। जो एक दिन मोहनिद्रा तोड़ने के लिए आया था, एक दिन प्रेम का प्रत्याशी होकर जिसने हृदय मांगा था, दुःख रूप में हृदय को आलोकित करके दर्प चूर्ण करने आया था—तब उसीके लिए प्राण रोता है, फिर से उसे लौटा लाने की साध होती है। (बलाका, ४२)।

अनुवादिका—प्रेमलता शर्मा

चतुर्दण्डीप्रकाशिका में वीणा प्रकरण

विद्याधर व्यंकटेश वझलवार

(खण्ड ७ अंक २ से आगे)

१० वेंकटमखि ने वीणाके मुख्यत तीन प्रकार माने हैं। यथा —

(१) शुद्धमेल वीणा

(२) मध्यमेल वीणा

(३) रघुनाथेन्द्रमेल वीणा

वीणा के इस प्रत्येक प्रकार के दो भेद होते हैं। यथा —

(१) एकरागमेल वीणा

(२) सवरागमेल वीणा

मध्यमेल वीणा का और भी एक तीसरा भेद है। यथा —एक तन्त्रिका वीणा।

एकराग शुद्धमेल वीणा—वीणा के अवयवों की जो सज्ञाए इस प्रकरण में आई हैं उनको यहाँ स्पष्ट कर दिया जाता है। वीणा के जिस भागपर मुख्य तार फैलाये जाते हैं तथा परदे बाधे जाते हैं उस मेरु से (इसको साधारण भाषा मे आड कहा जाता है) लेकर दाईं तरफ के क्षेत्रके कुछ अशको 'प्रवाल' कहा गया है और तवली का (तुंबे का आवरण) वह अश जो सकरा होकर प्रवाल से मिलता है, 'पीठ' कहलाता है। आडको 'मेरु कहा गया है। तार को 'तंत्री' तथा स्वरोत्पादक धातु के टुकडोंको 'पर्व' कहा गया है।

वीणा के ऊपरीभाग पर अर्थात् प्रवाल, पीठ, तवली इत्यादि भागों परसे गुजरती हुई चार तंत्रियाँ फैलाई जाती हैं। यदि वीणा अपने सामने इस तरह खड़ी की जाय ताकि उसके तार अपने सम्मुख आयें तो दाहिनी तरफ से बाई तरफ को तन्त्रियों का क्रम १, २, ३, ४ होगा। पहली तथा दूसरी तन्त्रिया पीतल की होती हैं। तीसरी तथा चौथी लोहे (फौलाद) की होती हैं। ये तन्त्रियाँ जिन स्वरो में मिलाई जाती हैं वे स्वर ये हैं पहली पीतल की तन्त्री मद्र-षड्ज मे, दूसरी मद्र-पचम में, तीसरी लोहे की मध्य षड्ज मे और चौथी मध्य-मध्यम में।

इन चार मुख्य तन्त्रियों की बाई तरफ तीन लोहे की तन्त्रिया फलाई जाती है। इनको पार्श्वतन्त्री अथवा श्रुति तन्त्री कहा गया है। इनको बैठाने के लिए पीतल का बना हुआ एक स्वतन्त्र मेरु (ब्रीज) होता है। इनमें पहली तन्त्री को 'टीपि' तथा तीसरी को 'झल्लिका'

कहा जाता है। दूसरी का कोई नाम नहीं है। टीपि तार-षड्ज में, दूसरी मध्य-पंचम में और तीसरी झल्लिका मध्य-षड्ज में मिलाई जाती है। इन तंत्रियों का उपयोग 'झाला' बजाने में होता हैं।

इस वीणा में कुल चौदह पर्व (frets) होते हैं। आड़ की तरफ से पहले नौ पर्वोंका परस्पर अंतर कुछ अधिक होता है, इसलिए इनको 'दीर्घ पर्व' कहा जाता है। यह पर्व डंडी के जिस अंशको व्याप्त करते हैं उस अंशको 'प्रवाल' कहा जाता है। नवें पर्व के बाद के पाँच पर्वोंका परस्पर तथा नवें और दशवें पर्व में जो अंतर होता है वह दीर्घ पर्वों से अपेक्षाकृत कम होता है। इस कारण इन पर्वोंको 'ह्रस्व पर्व' कहा जाता है। शक्यता की दृष्टि से चारों में से प्रत्येक तंत्री द्वारा चौदह पर्वों पर चौदह स्वर पाये जा सकते हैं। परन्तु तात्कालिक प्रथा के अनुसार पं० वेंकटमखि ने प्रत्येक तंत्री की उपयुक्तता केवल कुछ अल्प संख्यक स्वरों तक ही सीमित की है। यह परवर्ती वर्णन से और भी स्पष्ट होगा।

पर्वस्थापन-विधि में ग्रंथकार ने मेरु की दाहिनी तरफ प्रवाल पर प्रथम केवल छः दीर्घ-पर्व बैठाने को बताया है। इन पर पहली तंत्री द्वारा जो सप्त स्वर पाये जाते हैं वह निम्नोल्लिखित हैं :

	कर्नाटकी नाम	उत्तर भारतीय नाम
(१) खुला तार	मंद्र षड्ज	मंद्र षड्ज
(२) पर्व १ पर	मंद्र शुद्ध ऋषभ	मंद्र कोमल ऋषभ
(३) पर्व २ पर	,, ,, गांधार	,, शुद्ध ,,
(४) पर्व ३ पर	,, साधारण ,,	,, कोमल गांधार
(५) पर्व ४ पर	,, अंतर ,,	,, शुद्ध ,,
(६) पर्व ५ पर	,, शुद्ध मध्यम	,, ,, मध्यम
(७) पर्व ६ पर	,, वराली ,,	,, तीव्र ,,

दूसरी तंत्री द्वारा इन्हीं छः पर्वोंपर निम्नलिखित सात स्वर पाये जाते हैं :

	कर्नाटकी नाम	उ० भा० नाम
(१) खुला तार	मंद्र पंचम	मंद्र पंचम
(२) पर्व १ पर	,, शुद्ध धैवत	,, कोमल धैवत
(३) पर्व २ पर	,, ,, निषाद	,, शुद्ध ,,
(४) ,, ३ ,,	,, कैशिकी ,,	,, कोमल निषाद
(५) ,, ४ ,,	,, काकली ,,	,, शुद्ध ,,

(६) ,, ५ ,,	मध्य षड्ज	मध्य षड्ज
(७) ,, ६ ,,	,, शुद्ध ऋषभ	,, कोमल ऋषभ

तीसरी तन्त्री द्वारा इन छ पर्वोंपर वही स्वर पाये जायेंगे जो पहली तन्त्री द्वारा पाये गये थे। परन्तु ये मध्यस्थान के होंगे क्योंकि तन्त्री खुली छोडी जाने पर मध्य षड्ज स्वर बजता है।

चौथी तन्त्री द्वारा इन्हीं छ पर्वों पर पाये जानेवाले स्वर ये हैं

	कर्नाटकी नाम	उ० भा० नाम
(१) खुलातार	मध्य मध्यम	मध्य मध्यम
(२) पर्व १ पर	,, वराली मध्यम	,, तीव्र मध्यम
(३) ,, २ ,,	,, पचम	,, पचम
(४) ,, ३ ,,	,, शु० धैवन	,, मध्य को० धैवन
(५) ,, ४ ,,	,, ,, निषाद	,, शुद्ध ,,
(६) ,, ५ ,,	,, कैशिकी ,,	,, को० निषाद
(७) ,, ६ ,,	,, काकली ,,	,, शुद्ध ,,

यह हुई चार तन्त्रियों द्वारा प्रथम स्थापित छ पर्वोंपर स्वरोत्पादन विधि। इसके पश्चात् और भी सात पर्व बैठाने के लिये प्रकार कहते हैं। इनमे पहले तीन दीर्घ पर्व और बाद वाले चार ह्रस्व-पर्व होते हैं। तद्वत् दीर्घ पर्व प्रवाल पर तथा ह्रस्व पर्व पीठ पर अवस्थित करने का विधान है। इन नूतन सात पर्वों पर केवल चतुर्थ तन्त्री द्वारा ही स्वरोत्पादन किया जाता है। जो स्वर निकलेंगे वे नीचे दिये जाते हैं

पर्व	कर्नाटकी नाम	उ० भा० नाम
(१) दीर्घ पर्व ७ पर	तार षड्ज	तार षड्ज
(२) ,, ८ ,,	,, ऋषभ (रागोचित)	,, ऋषभ
(३) ,, ९ ,,	,, गाधार (,,)	,, गाधार
(४) ह्रस्व पर्व १ पर	,, मध्यम (,,)	,, मध्यम
(५) ,, २ ,,	,, पचम	,, पचम
(६) ,, ३ ,,	,, धैवत (,,)	,, धैवत
(७) ,, ४ ,,	,, निषाद (,,)	,, निषाद

सबसे अंत में और एक ह्रस्व पर्व बैठाया जाता है, जिसपर अतितार षड्ज निकाला जाता है। इस पर्व के पूर्ववर्ती पर्व तक ही तीन स्थानों के स्वरोंकी (मन्द्र, मध्य, तार)

निष्पत्ति सम्पन्न हो जाती है। इस दृष्टि से यह अंतिमपर्व जरूरी नहीं है। परंतु सौंदर्यलाभ की दृष्टि से वैणिकी लोग यह पांचवां ह्स्व-पर्व बैठाकर उस पर अतितार षड्ज पा लेते हैं ऐसा ग्रंथकारका कथन है। इन नव स्थापित अष्ट पर्वों में तार षड्ज का सातवां दीर्घ पर्व, अतितार-षड्ज का पांचवा ह्स्व-पर्व आखरीवाला चौदहवां पर्व तथा तार पंचम का ह्स्व पर्व (ह्स्व-पर्वों में दूसरा तथा समूचे पर्वों में ग्यारहवां) ऐसे तीन पर्व अचल रखे जाते हैं। बाकी पांच पर्व रागोचित् स्वर विकृति के अनुसार आगे पीछे स्थानान्तरित किये जाते हैं। एक राग-शुद्धमेलवीणा में तंत्रियों की तथा पर्वों की रचना किस प्रकार होती है यह इस विवरण में देखा गया। यह स्पष्ट है कि मंद्र तथा मध्य स्थानों में अचल ठाठ और तार स्थान में चल ठाठ की पर्व रचना हुई है।

सर्वराग शुद्ध मेलवीणा—शुद्धमेल वीणा के इस दूसरे प्रकार में तीनों स्थानों की पर्व रचना अचल ठाठ की ही रखी जाती है। अतएव पर्वों की संख्या तथा रचना पूर्वोक्त वीणा प्रकार से भिन्न होती है। प्रथम छः दीर्घ-पर्व स्थापन करने के बाद और भी तेरह पर्व बैठाये जाते हैं जिनमें से प्रथम पांच दीर्घ-पर्व तथा बाकी आठ ह्स्व-पर्व होते हैं। अर्थात् दीर्घ-पर्व कुल मिलाकर ग्यारह और ह्स्व-पर्व आठ होते हैं। दीर्घ-पर्व प्रवाल पर और ह्स्व पर्व पीठपर स्थापित होते हैं। प्रथम छः पर्वोंपर चार तंत्रियों द्वारा कौन कौन से स्वर पाये जा सकते हैं यह एक राग शुद्धमेल वीणा के विवरण में देखा जा चुका है। अब उनमें से प्रत्यक्ष व्यवहार में प्रत्येक तंत्री से कौन से स्वर ग्रहण किये जाते हैं यह देखा जाय।

पहली तंत्री द्वारा षड्ज, ऋषभ, गांधार तथा मध्यम ऐसे केवल चार ही स्वर ग्रहण किये जाते हैं। परवर्ती पर्वोंपर पंचम आदि स्वर पाये जाने पर भी उनको ग्रहण नहीं किया जाता। दूसरी तंत्री द्वारा पंचम, धैवत, और निषाद यह तीन ही स्वर ग्राह्य हैं। इस प्रकार पहली दो तंत्रियों द्वारा मंद्र सप्तक प्राप्त किया जाता है। मध्य षड्ज में मिलाई हुई तीसरी तंत्री द्वारा षड्ज, ऋषभ तथा गांधार ऐसे मध्य स्थान के तीन स्वर ग्रहण किये जाते हैं। मध्य मध्यम में मिलाई हुई चतुर्थ तंत्रीपर मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद् मध्य स्थान के ऐसे चार स्वर ग्रहण किये जाते हैं। परवर्ती तेरह पर्वोंपर इसी चतुर्थ तंत्री द्वारा तार सप्तक के षड्ज से अतितार सप्तक के षड्ज तक के तेरह स्वर निकाले जाते हैं। इस तरह से एकराग शुद्धमेल वीणा में चौदह तथा सर्वराग शुद्ध मेलवीणा में उन्नीस पर्वोंद्वारा मंद्र, मध्य, तार इन तीन स्थानों के और अतितार स्थान का षड्ज ये स्वर उत्पादन करने की व्यवस्था होती है। पहली दो तंत्रियों द्वारा मंद्र, तीसरी तंत्री तथा पहले चार पर्व और चौथी तंत्री तथा पहले छः पर्वों

के द्वारा मध्य और चौथी तन्त्री तथा बाकी के पर्वों द्वारा तार सप्तक तथा अतितार स्थान का षड्ज ऐसे स्वर निष्पन्न किये जाते हैं।

मध्यमेल वीणा—इस वीणा प्रकार में मुख्य तथा पार्श्व तन्त्रियों की संख्या पूर्वोक्त वीणाकी तरह ही होती है। परंतु मुख्य चार तन्त्रिया जिन स्वरों में मिलाई जाती हैं वे स्वर पूर्वोक्त पद्धति से भिन्न होते हैं जो इस प्रकार हैं

पहली तन्त्री (पीतल की)	अनुमन्द्र—पंचम
दूसरी ,, ,,	मन्द्र—षड्ज
तीसरी ,, (लोहेकी)	मन्द्र—पंचम
चौथी , ,,	मध्य—षड्ज

तीन पार्श्व तन्त्रिया पूर्वोक्त पद्धति से ही मिलाई जाती हैं।

मध्यमेल वीणा की पर्व रचना निम्नोक्त प्रकार की होती है

मुख्य चार तन्त्रियों के नीचे मेरु की दाईं तरफ प्रथम छ दीर्घपर्व बैठाए जाते हैं। इन पर्वों पर पाए जाने वाले स्वर इस प्रकार होते हैं

पहली तन्त्री

खुली	अनुमन्द्र-पंचम
पर्व १ पर	अनुमन्द्र-शुद्ध-धैवत
,, २ ,,	, ,, -निषाद
,, ३ ,,	,, -कैशिकी-निषाद
,, ४ ,,	,, काकली ,,
, ५ ,	मन्द्र षड्ज
,, ६ ,,	,, शुद्ध ऋषभ

द्वितीय तन्त्री —

खुली	मन्द्र षड्ज
पर्व १ पर	,, शु० ऋषभ
,, २ ,,	,, ,, गांधार
,, ३ ,,	,, साधारण गांधार
,, ४ ,,	,, अन्तर गांधार
,, ५ ,,	,, शु० मध्यम
,, ६ ,,	,, वराली मध्यम

तीसरी तंत्री—यह खुली अवस्था में मंद्र पंचम देगी। छः पर्वोंपर वही स्वर निकलेंगे जो पहली तंत्री द्वारा पाये गये थे। फरक इतना ही होगा कि काकली निषाद तक के स्वर मंद्र स्थान के होंगे और षड्ज तथा शु० ऋषभ मध्य स्थान के।

तव्दत् चतुर्थ तंत्री खुली अवस्था में मध्य-षड्ज देगी और छः पर्वोंपर वही स्वर निकलेंगे जो द्वितीय तंत्री द्वारा पाये गए थे। अर्थात् ये स्वर मध्य स्थान के होंगे यह स्पष्ट है।

इन पर्वों के दाहिनी तरफ प्रवालपर और भी चार दीर्घ पर्व स्थापित किये जाते हैं। जिन पर चतुर्थ तंत्री द्वारा मध्य स्थान के पंचम शु० धैवत, शु० निषाद और तार षड्ज इस क्रम से स्वर पाये जाते हैं। आगे चलते हुए सात ह्रस्व-पर्व पीठ पर बैठाए जाते हैं। इन पर्वोंपर क्रम से रे, ग, म, प, ध, नि तार स्थान के ये शुद्ध स्वर तथा सर्व शेष अतितार षड्ज स्वर पाये जाते हैं। इस तरह चतुर्थ तंत्री द्वारा प्रथम नौ दीर्घ पर्वोंपर मध्य सप्तक और दसवें दीर्घ-पर्व से सोलहवें पर्व तक तार सप्तक तथा आखिरी के सतरहवें पर्वपर अतितार षड्ज ये स्वर संपन्न किये जाते हैं। इन ग्यारह पर्वों में मध्य तथा तार स्थानीय पंचमों के दो और तार तथा अतितार स्थानीय षड्जों के दो ऐसे चार पर्व अचल होते हैं। बाकी सात पर्व रागोचित स्वर-विकृति के अनुसार स्थानान्तरित किये जाते हैं। अतएव वीणाके इस प्रकार में दस दीर्घपर्व और सात ह्रस्वपर्व, ऐसे कुल सत्रह पर्व होते हैं। यह हुई एकराग मध्य मेल वीणा।

सर्वराग मध्यमेल वीणा—यदि एक राग-मध्यमेल वीणा की पर्व संख्या में परिवर्तन करके प्रवाल पर बारह दीर्घ-पर्व तथा पीठपर ग्यारह ह्रस्व-पर्व स्थापित किये जायं ताकि बिना कोई पर्व स्थानान्तरित किये ही सब राग बजाये जा सकें तो वह सर्वराग-मध्यमेल-वीणा कहलाती है। इसके पीठस्थ पर्वों में कैशिकी निषाद का पर्व नहीं होता। अतएव वीणावादक काकली निषाद के पर्व पर ही कैशिकी निषाद बजाया करते हैं। अवश्य कोई-कोई वादक कैशिकी निषाद के लिये एक स्वतंत्र पर्व की स्थापना करते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार ह्रस्व पर्वों की संख्या ग्यारह से बारह हो जाती है। अतएव सर्वराग-मध्यमेल वीणा के दो प्रकार पाये जाते हैं।

ग्रंथ में जो पाठ छपा हुआ है उसका यही अर्थ होता है। परंतु वीणा या सितार जैसे पर्व वाले वाद्यपर स्वरोत्पादन की शक्याशक्यता की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा लगता है कि मूल पाठ और मुद्रित पाठ में जरूर प्रभेद है। किसी पर्वपर उसके निर्धारित स्वर से भिन्न स्वर तार को खींच कर बजाया तो जरूर जा सकता है और ऐसी क्रिया प्रत्यक्ष वादन में की भी जाती है। परंतु इस क्रिया से निकलने वाले स्वर हमेशा

निर्धारित स्वर से उच्च ही होते हैं। निम्न कभी हो ही नहीं सकते। अतएव काकली निषाद के पर्व पर कैशिकी निषाद बजाया जाना असंभव है। अवश्य कैशिकी निषाद के पर्व पर काकली निषाद तार को खींचकर निकाला जा सकता है। अतएव कशिकी निषाद के लिये पर्व स्थापित करके काकली निषाद का अलग पर्व न भी रखें तो कोई क्षति नहीं होती। वीणा प्रकरण के ९७ क्रमांक के श्लोक में 'तत्स्थाने' इस पद का 'उसी स्थान (पर्व) पर' ऐसा अर्थ करने पर उपर्युक्त आक्षेप प्रकट होता है। स्पष्टता के लिये ९६ तथा ९७ क्रमांक के श्लोकों के अंश उद्धृत किये जाते हैं

तत्सर्वरागमेलाख्यवीणैव सति जायते।

न कशिकीनिषादोऽस्यामस्ति पीठस्थपर्वसु ॥९६॥

वादयन्ति हि तत्स्थाने काकलीमेव वैणिका। ॥९७॥

यदि इस पदका अर्थ 'उस प्रसंग में' अर्थात् 'जब कैशिकी निषाद का प्रयोग करना रागोचित होता है ऐसे अवसर पर' इस प्रकार लेने से राग शुद्धता की दृष्टि से आक्षेप खड़ा होता है। कारण भारतीय संगीत की विशेषता राग-गायन में ही है। राग-गायन में शुद्धता अर्थात् शास्त्रोक्त नियमों का दृढता से पालन करना सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है। ऐसी स्थिति में यदि कोई कैशिकी-निषाद की जगह काकली निषाद का प्रयोग करे तो रागदारी संगीत का प्राणान्त ही हो जायगा। अत मुद्रित पाठ इस दृष्टि से भी दोषपूर्ण है ऐसा कहना पड़ता है। मेरे मित्र स्नेहभाजन श्री के० एम० वर्मा के सुझाव के अनुसार यदि इस पाठ में कैशिकी और काकली पदों के स्थानों में परस्पर परिवर्त्तन कर दिया जाय तो दोनों आक्षेपोंका निराकरण हो जाता है। ऐसा करनेसे पाठ इस प्रकार होगा

न काकलीनिषादोऽस्यामस्ति पीठस्थ पर्वसु ॥९६॥

वादयन्ति हि तत्स्थाने कैशिकीमेव वैणिका ॥९७॥

वीणा के इस प्रकार में भी मंद्रादि तीन स्थानों के इक्कीस स्वरोंकी निष्पत्ति शुद्ध मेल वीणा में अनुसारित मार्ग से ही होती है। परंतु दूसरी, तीसरी तथा चौथी ये तीन ही तन्त्रियां काम में लाई जाती हैं। यद्यपि प्रथम तन्त्री त्रिस्थानोत्पत्ति की दृष्टि से काम की नहीं होती तब भी वादन सौंदर्य की दृष्टि से वह वैणिकों द्वारा अनुमंद्र पंचम में बांध ली जाती है। यहां 'वादन सौंदय' शब्दका विशेष अर्थ है। केवल मंद्र-षड्ज से ही बजाना हो अथवा यदि स्वर विन्यास मंद्रषड्ज से आरंभ होता हो तो दूसरी मंद्र षड्ज की तन्त्री से काम लिया जा सकता है। परंतु अनुमंद्र स्वरों से युक्त कोई स्वर-विन्यास मंद्र षड्ज पर लाकर समाप्त करना हो तो अनुमंद्र प, ध, नि पहली तन्त्रीपर बजाकर यदि मंद्र षड्ज के लिये दूसरी तन्त्री खुली

बजाई जाय तब सौंदर्य भंग होगा। वादन माधुर्य नष्ट होगा। इसलिये ऐसे अवसर पर मंद्र षड्ज की पहली तंत्रीपर ही बजाना उचित है। इसी दृष्टि से त्रिस्थान-निष्पत्ति के लिये आवश्यक न होने पर भी प्रथम तन्त्री अनुमंद्र-पंचम में बांध ली जाती है।

दूसरी, तीसरी तथा चौथी तन्त्री पर, जो क्रमानुसार मंद्र-षड्ज, मंद्र-पंचम तथा मध्य-षड्ज में बंधी होती हैं, तीन स्थानों की निष्पत्ति निम्नोक्त पद्धति से होती है। दूसरी तंत्रीपर मंद्र स्थानके षड्ज, ऋषभ, गांधार और मध्यम ये चार ही स्वर लिये जाते हैं। परवर्ती पर्वोंपर मंद्र प, ध, नि आदि स्वर निकलने की संभावना होते हुए भी वे नहीं लिये जाते हैं। तीसरी तंत्री पर मंद्र स्थानके पंचम, धैवत और निषाद तीन ही स्वर ग्रहण किये जाते हैं। इसप्रकार दूसरी और तीसरी तंत्री मिलकर मंद्र स्थान के स्वरोंकी निष्पत्ति हुई। चतुर्थ तंत्रीपर ग्यारहवें पर्व तक मध्यस्थान के स्वरों की एवं बारहवें दीर्घ-पर्व तथा परवर्ती समूचे ह्रस्व पर्वोंपर तार स्थान के स्वरोंकी निष्पत्ति होती है।

प्रथम तंत्री पर निकलने वाले मंद्र-षड्ज से नीचे वाले स्वर अनुमंद्र कहलाते हैं। तद्वत् अतितार-षड्ज तथा उससे ऊपरवाले स्वर अतितार कहलाते हैं।

इन स्वरोंकी निष्पत्ति के बावजूद चतुर्दंडी गायक वादक प्रत्यक्ष में केवल सत्रह ही स्वरोंका प्रयोग करते हैं। इनमें मध्यस्थान के सात, तारस्थान के सात अतितार षड्ज आदि मंद्रस्थान के धैवत और निषाद इन स्वरोंका समावेश होता है और ये केवल चतुर्दण्डी-वादकों द्वारा व्यवहार में लाये जाते हैं। इस पद्धति को 'सारणीमार्ग' कहा गया है।

इस विवेचन के प्रसंग में ग्रंथकार पं० वेंकटमखि ने ऊपर बताई हुई स्वर व्यवहार पद्धति से किञ्चित भिन्न एक विशेष स्वर व्यवहारप्रथा का उल्लेख किया है। वह है 'पक्क सारणी मार्ग'। दाक्षिणात्य भाषामें असल में वाद्य की तंत्री सुर में मिलाने की क्रिया को 'सारणी' कहते हैं। परंतु यहां 'सारणि मार्ग' शब्द एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त किया गया है ऐसा प्रतीत होता है। कारण इस मार्ग के विवरण में मुख्य या पार्श्व तंत्रियों के स्वर मिलान का निर्देश नहीं है। निर्देशित चीज है चतुर्दण्डी वादन तथा गायन में प्रयुक्त होने वाले कौनसे स्वर किस तंत्री पर लियें जायेंगे। चतुर्दण्डी गायन-वादन में तीन स्थानों के इक्कीस स्वरों में से केवल सत्रह ही स्वर व्यवहृत किये जाते हैं ऐसा बताने के पश्चात् कहा गया है कि यह 'सारणी-मार्ग' वैणिकों द्वारा परिकल्पित हुआ है।

ग्रंथकार बताते हैं कि वीणावादक गण मंद्र-धैवत और मंद्र-निषाद इन दो में से किसी एक ही स्वर का प्रयोग करते हुए अधिकतर दिखाई देते हैं। इस कारण वास्तव में यही कहना उचित होगा की चतुर्दंडी वादन में सोलह ही स्वर प्रयुक्त होते हैं। परंतु क्वचित् कदाचित्

वादकों द्वारा वे दोनों भी प्रयुक्त होते हैं यह दृग्गोचर होने की वजह से चतुर्दण्डी वादन में सत्रह स्वर प्रयुक्त होते हैं ऐसा कहा गया है। चतुर्दण्डी गायन में गायकगण जो स्वर व्यवहार करते हैं वह भिन्न है। गायकगण मंद्रस्थानके सात, मध्य के सात, तार षड्ज तथा अनुमंद्र के धैवत, निषाद इन सत्रह स्वरों का व्यवहार किया जाता है। परंतु वे भी अनुमंद्र के दो में से किसी एक ही स्वर का प्रयोग अधिकतर किया करते हैं। तात्पर्य यह कि अधिकतर सोलह स्वरोंका ही प्रयोग चतुर्दण्डी गायन में हुआ करता है। यह गायकों द्वारा अनुसारित 'सारणी मार्ग' है।

आगे बढ़ते हुए पं० वेंकटमखि कहते हैं कि गीतप्रबंधादि चतुर्दण्डी में अनुमंद्र-धैवत से भी नीचे तथा तार षड्ज से भी ऊंचे स्वर प्रयोग में आते हुए प्रत्यक्ष व्यवहार में देखे जाते हैं। प्राचीन संप्रदाय तथा प्रथाओं के ज्ञाता तानप्पाचार्यादि पंडितगण इस का अनुमोदन नहीं करते। इन प्रथाओं का अनुसरण यदि किया जाय तो चतुर्दण्डी गायन-वादन के लिये मध्य और तार इन दो ही स्थानों के स्वर पर्याप्त होंगे और मंद्रस्थान के स्वर इस कार्य की दृष्टि से निरर्थक सिद्ध होंगे इस आशंका वैणिकों ने 'पक्क सारणी मार्ग' का नया नियम बना कर अपने कृत्य के लिये शास्त्राधार बना लिया।

'पक्कसारणीमार्ग संज्ञा 'पक्क' तेलुगु तथा 'सारणीमार्ग', संस्कृत ऐसे दो शब्दों से तैयार हुआ है। 'पक्क' शब्दका अर्थ है जो आमतौर पर व्यवहार में नहीं आता। 'सारणी-मार्ग' शब्द का आशय है 'स्वर ग्रहण पद्धति। अतएव 'पक्क सारणी मार्ग' का अर्थ है 'ऐसा मार्ग जो रूढ़ मार्ग से भिन्न है'। अर्थात् यह मार्ग वीणा की तन्त्रियों पर स्वर ग्रहण पद्धति से संबद्ध है। इस मार्ग में वीणा की तन्त्रियों पर पूर्वोक्त पद्धति के अनुसार जितने स्वर ग्रहण किये जाते हैं उनसे कुछ अधिक स्वर प्रत्येक तन्त्री पर विकल्प से लिये जाते हैं।

मध्यमेरुवीणा की प्रथम तन्त्रीपर परंपरागत नियम के अनुसार सा, रि, ग, म ये चार ही स्वर लिये जा सकते हैं, प, ध, नि नहीं लिये जाते। पक्कसारणी मार्ग में उसी तन्त्रीपर पंचम तथा शुद्ध धैवत भी लिये जाते हैं। तद्वत दूसरी तथा तीसरी तन्त्रीपर विकल्प से लिये जाने वाले स्वर क्रमानुसार ये हैं —

दूसरी तन्त्री—मध्यस्थान के षड्ज, शुद्ध ऋषभ, शुद्ध गांधार।
तीसरी तन्त्री—मध्यस्थान के शुद्ध मध्यम, वराली मध्यम, पंचम।
चौथी तन्त्रीपर कोई स्वर विकल्प से लेने की आवश्यक्ता ही नहीं होती।

इस प्रकार शुद्धमेल वीणा पर चतुर्दण्डी के निर्वाह के लिये पंद्रह ही स्वर पर्याप्त हैं।

अनुमंद्र ध, नि के बदले में मुद्रित पाठ के अनुसार मध्य षड्ज लिया जाता है। मुद्रित पाठ ऐसा है।

"अनुमंद्रस्थयोर्धन्योः स्थाने स्यान्मध्यषड्जकः ।"

इस पाठ में कुछ त्रुटि सी लगती है। यदि 'स्थाने' पद का अर्थ 'उन पर्वोंपर' ऐसा किया जाय तो पंक्ति का अर्थ यह होता है कि अनुमंद्र ध अथवा नि के पर्वपर मध्य षड्ज निकाला जाय। परंतु यह क्रिया असंभव सी है। अनुमंद्र-धैवत तथा निषाद से मध्य-षड्ज दस तथा नौ स्वरों की दूरी पर है। इस कारण उन स्वरों के पर्वोंपर तंत्री खींच कर इतनी दूरी का स्वर निकालना अस्वाभाविक है और ऐसी प्रथा भी नहीं है। अतएव 'स्थाने' का अर्थ 'पर्वपर' करना युक्तिसंगत नहीं लगता। अतः 'स्थाने' पद का अर्थ 'बदले में' करना उचित होगा। पहले ही कह दिया गया है कि पक्कसारणी मार्ग के अनुसार शुद्धमेल वीणा पर चतुर्दण्डी के निर्वाह के लिये पंद्रह ही स्वर पर्याप्त हैं। फिर अनुमंद्र ध, नि के स्थान में षड्ज स्वर लेना है, यह भी स्पष्ट कहा गया है। अनुमंद्र ध, नि कम हो जाने से मंद्र के सात और मध्य के सात ऐसे कुल मिलाकर चौदह ही स्वर रह जाते हैं। इनमें मध्य षड्ज अन्तर्भूत है ही। अतएव पंद्रहवां स्वर तार-षड्ज ही होना चाहिये यह अनायास ही सिद्ध होता है। यह 'पक्कसारणी मार्ग' शुद्धमेल वीणा से संपर्कित है।

अब मध्यमेल वीणा से संपर्कित पक्कसारणी मार्ग देखेंगे। मध्यमेल वीणा में इक्कीस स्वरोंकी निष्पत्ति द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ इन तीन ही तंत्रियोंपर होती है यह पहले ही देख लिया गया है। द्वितीय तंत्री पर साधारण नियम से मंद्रस्थान के सा, रे, ग, म ये चार ही स्वर लिये जाने उचित हैं। परंतु पक्कसारणी मार्ग के अनुसार इनसे ऊँचे प, ध, नि आदि स्वर भी लिये जा सकते हैं। तद्वत् तृतीय तंत्रीपर जहां मंद्रस्थान के प, ध, नि ही केवल लिये जा सकते थे, वहां पक्कसारणी मार्ग में उनसे ऊँचे होनेवाले मध्यस्थानके भी स्वर लिये जाते हैं। मध्यमेल वीणा पर चतुर्दण्डी गायन-वादन अनुमंद्र ध, नि, मंद्रस्थानके सात, मध्यस्थान के सात और तार-षड्ज इन सत्रह स्वरों से संपन्न किया जाता है। परंतु पक्कसारणी मार्ग में कर्णाट, आन्ध्र, तुरुष्क (उत्तर भारत) इत्यादि भूप्रदेशोंमें प्रचलित पद-गायन में तार-षड्ज से उच्च तार ऋषभ, गांधारादि स्वरोंका प्रयोग गायकों द्वारा किया जाता है।

इस विवेचन में तीन स्थानों के इक्कीस स्वरोंका विनियोग किस प्रकार होता है यह विस्तृत रूपसे दिखा दिया गया है।

मध्यमेल-एकतंत्रीवीणा—यह मध्यमेल वीणा का तीसरा प्रकार है। एकतंत्री वीणा नाम से ही समझ में आता है कि इस वीणा में केवल एक ही तंत्री से काम लिया जाता है।

यह वीणा की चतुर्थ तन्त्री होती है, अर्थात प्रथम तीन तन्त्रियाँ रागों की सुरावट बजाने के कार्य मे नहीं लाई जाती। ग्रथकार प० वेंकटमखि के कथन के अनुसार चतुर्थ तन्त्रीपर, जो षड्ज स्वर में बांधी जाती है, मद्र मध्य, तथा तार इन तीनों स्थानो के स्वर पाये जा सके, इस तरह से पर्व योजना करनी चाहिये। यदि मध्य मेलवीणा पर मुख्य चार तन्त्रियों की स्वर योजना देखे तो स्पष्ट होगा कि चतुर्थ तन्त्री मध्य-षड्ज में बांधी जाती है। अतएव इस तन्त्रीपर मद्र स्थान के स्वरों को निकालना असभव है। अर्थात् यदि इसी तन्त्रीपर मद्रस्थान भी पूरा पाना हो तो उसको मद्र-षड्ज मे बाधना अनिवार्य हो जाता है। ग्रथकार वेकटमखि ने इस बात को स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा है। प्रत्येक बातको निरुद्विग्न रूपसे कहने वाले व्यक्तिके लिये ऐसी अस्पष्टता रख देना जरा आश्चर्य जनक लगता है।

हो सकता है कि इस दूरदर्शिता के ही कारण मध्यमेलवीणा की तन्त्री रचना म प० रामामात्य ने (प० वेंकटमखि के पूर्ववर्ती ग्रथकार) चतुर्थ तन्त्री मद्र-षड्ज मे बांधने को कहा है। प० वेंकटमखि ने इस पर से उनकी बहुत कडी आलोचना की है। जब वीणा की द्वितीय तन्त्री मद्र-षड्ज मे ही बंधी रहती है तब चतुर्थ तन्त्रीको उसी स्वर म बांधने का कोई मतलब नहीं होता और ऐसा करना प० रामामात्य का केवल भ्रम है, ऐसा प० वेकटमखि का कहना है। मध्यमेल वीणा मे दूसरी, तीसरी तथा चौथी इन तीन तन्त्रियों को मिलाकर मद्र, मध्य तार स्थानों के इक्कीस स्वरोंकी निष्पत्ति करनी होती है, इस दृष्टि से वेंकटमखि ठीक ही कहते हैं। कारण चतुर्थ तन्त्रीको मद्र-षड्ज म बांधने से मध्य-षड्ज बारहवे पर्वपर निकलेगा। अत प्रथम ग्यारह पर्व बेकार सिद्ध होंगे। तद्वत् परवर्ती ह्रस्व पर्वों पर केवल मध्यसप्तक के सात और तार सप्तक का षड्ज ये स्वर पाये जाएँगे। इतने स्वर चतुर्दण्डी गानके लिये पर्याप्त होने पर भी वादन के लिये पर्याप्त नहीं। कारण वादन के लिये आवश्यक पूरा तारसप्तक इस मे पाया नहीं जाता। परन्तु मध्यमेल वीणा के एकतन्त्री प्रकार को लक्ष्य करते हुए प० रामामात्य ने चतुर्थ तन्त्री मद्र-षड्ज मे बांधने को यदि कहा हो, जैसा कि वह सभवनीय लगता है, तो उनको भी गलत नहीं कहा जा सकता। कमसे कम उनको 'पशुपाल' कह करके अपमानित करने की, जैसा कि प० वेंकटमखि ने किया है, आवश्यकता तो नहीं दिखती।

जब एक ही तन्त्री पर तीनों स्थानों के स्वरो की निष्पत्ति करनी है तब पर्वोंकी सख्या मे वृद्धि करना आवश्यक होगा यह तो स्पष्ट ही है। इसी उद्देश्य से इस वीणा का प्रवाल अन्यान्य प्रकार की वीणाओं से किंचित् दीर्घ होना चाहिये ऐसा ग्रथकार कहते हैं। पार्श्वतन्त्रिया अन्य वीणाओं में जैसी होती हैं वैसी ही इसमे होती है। इस वीणा के भी एक राग और

सर्वराग ऐसे दो प्रकार होते हैं। एकतंत्रीवीणा से सबंधित पं० वेंकटमखि का कथन नीचे उद्धृत किया जाता है।

मध्यमेलाख्यवीणायां तृतीयो भेद इष्यते।
पूर्वतन्त्रीत्रयं त्यक्त्वा षड्जयुक्तां चतुर्थिकाम् ॥११॥
तन्त्रीं त्रिस्थानसारिभिर्योजयेत्सैकतंत्रिका।
किंचिद्दीर्घः प्रवालः स्यादस्यां त्रिस्थानशुद्धये ॥१२॥

रघुनाथेन्द्रमेलवीणा—इस वीणाप्रकार का वर्णन पं० वेंकटमखि ने अपने शब्दों में नहीं दिया है। उन्होंने अपने पिता श्री गोविंद दिक्षितर् द्वारा लिखित 'संगीत सुधानिधि' ग्रंथ से ही उसे उद्धृत कर दिया है। उस वर्णनके अनुसार सर्वराग मध्यमेलवीणा की चतुर्थ तन्त्री को, जो मध्य-षड्ज में बांधी जाती है, पंचम में बाँधने से रघुनाथेन्द्र मेलवीणा होती है। यह पंचम मध्यस्थानका होगा, यह स्पष्ट है। कारण तीसरी तंत्री मंद्र-पंचम में होती है। अतः चतुर्थ तंत्री को उसी स्वर में बांधने से अपेक्षित उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी। मध्यमेलवीणा में तीसरी तंत्री पर मंद्रस्थान के प, ध, नि ये तीन ही स्वर लेकर चतुर्थ तन्त्री खुली बजाने से मध्य-षड्ज की प्राप्ति होती है। रघुनाथेन्द्र मेलवीणा की चतुर्थ तंत्री मध्य-पंचम में होने के कारण उससे निम्न मध्यस्थान के सा, रे, ग, म ये स्वर भी तीसरी ही तंत्रीपर लेने पड़ते हैं। मध्य पंचम तथा उससे ऊँचे मध्य तथा तार स्थान के स्वर चतुर्थ तंत्रीपर बजाये जाते हैं। अर्थात् मध्यमेलवीणा में चतुर्थ तंत्री पर मध्य स्थान का मध्यम जिस पर्व पर पाया जाता है उस पर्व पर रघुनाथेन्द्र मेलवीणा में तारषड्ज बजता है। इस वीणा के भी एकराग तथा सर्व राग ये दो भेद होते हैं।

द्वितन्त्रिका वीणा—यह वीणा प्रकार पं० वेंकटमखि का स्वयं का आविष्कार है। वे कहते हैं :—

अस्मात्कल्पितं वीणाद्वयं संदर्शयामहे। ॥१६०॥
एषा द्वितन्त्रिका वीणा वेङ्कटाध्वरिकल्पिता ॥१६४॥

दूसरी तंत्री की स्वर योजना में परिवर्तन करके इसके भी दो प्रकार बनाये हैं। द्वितन्त्रिका वीणा में अन्य वीणाओं की भांति मुख्य तंत्रियां चार न होकर केवल दो ही होती हैं। प्रथम पीतल की और दूसरी लोहेकी। पहली मंद्र-षड्ज में और दूसरी मंद्र-मध्यम में मिलाई जाती है। पहली पर सा, रे, ग, और दूसरी पर मंद्र-शुद्ध मध्यम से लेकर तार स्थान तक के स्वर पाने की व्यवस्था होती है। प्रवाल का माप एकतंत्री वीणा की तरह ही होता है। पार्श्व-

तन्त्रियों की स्वर योजना अन्यान्य वीणाओं में जैसी होती है वैसीही इसमें होनी चाहिये ऐसा ग्रंथकार का आदेश है।

इस वीणा की दूसरी तन्त्री मंद्र पंचम मे मिलाने से दूसरा प्रकार तैयार होता है। इसकी पहली तन्त्री पर मंद्र स्थानके सा, रे, ग, म ये चार चार स्वर और दूसरी पर मंद्र पंचम से लेकर तार सप्तक तक के सर्व स्वर निकाले जाते हैं।

देखा जायगा कि इस तरह वीणा के मुख्य छ: प्रकार होते हैं।

(१) एकतन्त्री वीणा
(२) द्वितन्त्री वीणा नं० १
(३) द्वितन्त्री वीणा नं० २
(४) शुद्ध मेल वीणा
(५) मध्य मेल वीणा
(६) रघुनाथेन्द्र मेल वीणा

इनमें से प्रत्येक वीणा-प्रकार के दो प्रभेद हैं।

(१) एकराग मेल वीणा
(२) सर्वराग मेल वीणा

इस तरह वीणाके विभिन्न बारह रूप दिखाई देते हैं।

शुद्ध मेल वीणा, मध्यमेल वीणा तथा रघुनाथेन्द्र मेल वीणा इन तीनों के दो दो प्रभेद मिलाकर जो छ प्रकार होते हैं उन सबों में एक तन्त्री मंद्र-पंचम में बंधी होती है। यदि उसको मंद्र-मध्यम में बदल दिया जाय तो और भी छ नये प्रकार की वीणाएं तैयार होती हैं। इस तरह कुल मिलाकर वीणा के अठारह प्रकार होते हैं। परंतु अंत में बनाये हुए छ प्रकार श्रुतिमधुर नहीं होंगे, इस कारण वह त्याज्य मानकर केवल बारह ही प्रकार ग्रहण किये जाँय, ऐसा ग्रंथकार कहते हैं, ग्रंथोक्त उद्धरण ऐसा है —

> सत्यमेव भवन्त्येता षड् वीणा स्युर्नरक्तिदा।
> ततो वीणा द्वादशैवेत्यस्माकं जयदुन्दुभि ॥१७७॥

इन बारह वीणाप्रकारों के संबंध में एक विशेष बात की तरफ ग्रंथकार पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। ये सब प्रकार वीणा पर प्रसारित की जाने वाली मुख्य चार तन्त्रियों में ही स्वरारोपण तथा प्रत्यक्ष प्रयोग के फेर-बदल से होते हैं। पार्श्व में स्थित तीन श्रुति तन्त्रियों का इससे कुछ संबंध नहीं है। ग्रंथगत उक्ति यह है —

एकतन्त्री द्वितन्त्र्यादिव्यवहारस्त्वसौ पुनः।
ऊर्ध्वतन्त्रीरपेक्षैव न तिस्रः श्रुतितन्त्रिकाः ॥१७२॥

और भी एक बात की तरफ ग्रंथकार ने ध्यान आकर्षित किया है। वीणा के सब प्रकारों में जो चार मुख्य तंत्रियां होती हैं वह सब षड्ज, मध्यम तथा पंचम इन चतुःश्रुतिक स्वरों में ही बांधी जाती हैं। अन्य किसी स्वर में उनको बांधना इस कारण संभव नही कि मंद्र, मध्य तथा तार स्थानों के प्रयोजनीय सब स्वरोंकी निष्पत्ति नहीं हो सकती।

इस समूचे प्रकरण में पर्व स्थापना पद्धति का वर्णन करने में जो एक विशेषता बरती गई है वह ध्यान आकर्षण करती है। इस वर्णन पद्धति से प्रतीत होता है कि वीणा पर मंद्र, मध्य, तार इन तीन स्थानों के इक्कीस स्वरों की निष्पत्ति ही प्रधान लक्ष्य है। उदाहरण के लिये शुद्धमेल वीणा की पर्वस्थापना-वर्णन को देखें।

पर्वणां संनिवेशोऽथ वक्ष्यते लक्ष्यसंमतः।
मेरोः पुरस्तात्पर्वाणि षट् क्रमेण निवेशयेत् ॥२०॥

ग्रंथकार श्लोक की द्वितीय पंक्ति में बताते हैं कि मेरुके सामने छः पर्व क्रम से बैठाए जाँय। (ये पर्व दीर्घ हैं, यह बादमें बताया गया है।)

इतना कहने के पश्चात् चार तंत्रियां को मिलाकर इन छः पर्वोंपर मंद्र और मध्य स्थान के सात सात स्वर कैसे पाये जाते हैं यह ३० वें श्लोक तक बताया गया है। इसके पश्चात् ३१ वें श्लोक में कहा गया है :—

तदग्रे सप्त पर्वाणि यथायोगं निवेशयेत्।
तेषां प्रवाले दीर्घाणि त्रीणि पर्वाणि विन्यसेत् ॥३१॥

— — — — —

पीठे ह्रस्वाणि पर्वाणि चत्वारि विनिवेशयेत् ॥३२॥

इन सात पर्वोंपर तार स्थान के सात स्वर निकलते हैं यह स्पष्ट कह दिया गया है। इसके बाद कहते हैं :—

एकं सर्वोत्तरं ह्रस्वं पर्व पीठे निवेशयेत् ॥३४॥
तत्रातितारषड्जाख्यो द्वाविंशोऽपि स्वरो भवेत्।
लक्षज्ञैर्गृह्यते सोऽयं रक्तिलाभैकलोभतः ॥३५॥

यह आखिरी पर्व भी ह्रस्व पर्व ही है। परंतु वह अति तार स्थान के षड्ज के लिये होने के कारण तार-स्थान के सप्त स्वरोत्पादन के लिये बैठाए जानेवाले पर्वों के साथ उसका उल्लेख नहीं किया गया।

इतने से ही स्पष्ट होगा कि एक स्थान के स्वरों की पूर्ण निष्पत्ति होने के बाद ही परवर्ती स्थान के स्वरों की पर्व-स्थापन-व्यवस्था बतलाई गई है।

इसी वीणा के सर्वराग प्रकार की पर्व व्यवस्था बतलाने के बाद कहते हैं —

एतस्यामेव वीणाया स्वराणामेकविंशते ॥४४॥

निरूपयाम स्थानानि स्वरास्त्रेधा विभज्य च। ॥४५॥

वीणा पर इक्कीस स्वरों का उत्पादन तथा उनका तीन स्थानों में विभाजन इन दो बातों पर ग्रंथकार का ध्यान किस हद तक केंद्रित था यह इस श्लोक से और भी स्पष्ट होता है।

योगवासिष्ठ में काल का स्वरूप

सत्यव्रत

वैसे तो योगवासिष्ठ में कहीं भी पृथक् रूप से काल के स्वरूप पर विचार नहीं है पर इधर उधर जो कड़ियां बिखरी पड़ी हैं उन्हें एक दूसरे से जोड़ने पर योगवासिष्ठकार की कालविषयक विचारशृंखला का बहुत कुछ पता लगाया जा सकता है। योगवासिष्ठकार ने उत्पत्ति प्रकरण में सृष्ट्युत्पत्ति प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन किया है। उनके अनुसार हिरण्यगर्भवेपोपहित परमसत्ता से सर्वप्रथम जीव को उत्पत्ति होती है, तदन्तर शून्यतारूप शब्दादिगुण बीज स्वसत्ता का उदय होता है। यह सारा प्रपंच उस परा शक्ति का हो है जो स्वयं में अविकृत रहती है। यह मात्र उसकी आत्माभिव्यक्ति है। यह सारा प्रपंच, जिसमें काल भी सम्मिलित है, वास्तव में असत् है परन्तु प्रतीति इसकी इस प्रकार की होती है कि मानो यह सत् हो। वास्तविक सत्ता तो परा शक्ति (ब्रह्म) की ही है। शेष जितनी सत्ताएं हैं जैसे काल सत्ता, कला सत्ता, वस्तु सत्ता, इन सब की पृथक् सत्ता अवास्तविक है। काल की प्रातिभासिक और पारमार्थिक सत्ताओं का भेद योगवासिष्ठ में शुक्रोपाख्यान में भी स्पष्ट किया गया है। जब भृगु अपने पुत्र की मृत्यु से दुःखी होकर काल को शाप देने ही लगते हैं तो काल मनुष्य-रूप धारण कर उनके सामने जा खड़ा होता है। वह उनसे कहता है कि आपका शाप मुझ पर कोई असर नहीं करेगा। मैं तो नियति पालक हूँ (वयं नियति पालकाः) आपका शाप मुझे जला नहीं पायेगा क्योंकि आप भोजन हैं और मैं भोक्ता। मैं नियति के वश में हूँ। मैंने संसारों की पंक्तियों की पंक्तियां निगली हैं, करोड़ों रुद्रों को खाया है और विष्णुओं के समूहों का भोजन किया है। यह जगत्परमात्मरूप मेरा मूर्तामूर्त स्वरूप कल्पित है। परमात्मा (ब्रह्म) अपने आप में जगद्रूप में अपने को प्रपंचित करता है। कर्तृता और अकर्तृता दोनों ही परिकल्पित हैं। न ये सत्य हैं न मिथ्या।[1] यही स्थिति सृष्टि में काल की है। काल न सत्य है न मिथ्या। वस्तु स्थिति में काल सत्य नहीं है। वह ब्रह्म का ही प्रपंच है। व्यावहारिक अनुभव में काल मिथ्या नहीं है। ऋतु, अयन इत्यादि साक्षात् अनुभवसिद्ध हैं।

योगवासिष्ठकार इस प्रकार काल की दो प्रकार की सत्ता मानते हैं — पारमार्थिक और प्रातिभासिक। पारमार्थिक सत्ता में काल ब्रह्म ही है, और ब्रह्म के समान ही वह अमूर्त है,

---

१. उत्पत्ति प्रकरण, अध्याय १२।

अज है एवम् अपने अविकृत स्वरूप में विद्यमान रहता है।[२] प्रातिभासिक सत्ता में काल वर्ष, कल्प, युग रूप में व्यावहारिक अनुभव का विषय बन जाता है। इस व्यावहारिक-दशा में इसमें दो प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं जिन्हें प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा कहा जाता है।[३] इन्हीं शक्तियों के माध्यम से काल सारी सृष्टि का नियन्त्रण करता है। रोकना और अनुमति देना इन्हीं प्रक्रियाओं पर समूची सृष्टि व्यवस्था आधारित है। बीज बोये जाने पर अंकुर रूप में फूट निकलता है यहाँ अभ्यनुज्ञा शक्ति काम कर रही है पर सीधे ही वह वृक्ष नहीं बन जाता यहाँ प्रतिबन्ध शक्ति काम कर रही है। इन्हीं दो शक्तियों के माध्यम से काल सूत्रधार के समान इस लोकयन्त्र का सचालन करता है।[४] इस लौकिक काल की पारमार्थिक या वास्तविक सत्ता होती नहीं, यह पहिले ही कहा जा चुका है। यह तो एक मानसिक कल्पना मात्र है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्रादि तत्तत्पदार्थों की गति से इसकी कल्पना कर ली जाती है। एवमेव इस मानसिक कल्पना से तत्तत्पदार्थों की कल्पना कर ली जाती है।[५] पहिली कल्पना दूसरे को जन्म देती है और दूसरी पहिली को। हैं दोनों ही कल्पना। वास्तविक सत्ता किसी की भी नहीं है। वास्तविक ज्ञान का उदय होने पर किसी भी कल्पना का अस्तित्व नहीं रह जाता। उस समय केवल एक शान्त तत्त्व विराजमान रहता है। वर्तमान, भूत, भविष्यत्

---

२ कालो ह्यात्मनि तिष्ठति।
अमूर्तो भगवान् कालो ब्रह्मेव तमनु विदु। ५।४९।१४-१५

३ (क) प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञानां कालो दातेति दृश्यते। ३।२०।६२
(ख) प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञासु काल क्रमया स्थित। ४।३०।२२
(ग) प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाना कालो दातेति या श्रुति। ५।४९।१८

४ प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां तेन विश्व विभज्यते॥
— वाक्यपदीय, कालसमुद्देश, कारिका ४।
यहाँ योगवासिष्ठ की पंक्तियों पर वाक्य की कारिका के उत्तरार्ध का प्रभाव झलकता है। सम्भवत यह एक पुराना विचार था जिसे वाक्यपदीयकार एव योगवासिष्ठकार दोनों ने ही अपना लिया। इसका संकेत योगवासिष्ठ की पंक्ति में श्रुति पद से मिलता है प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाना कालो दातेति या श्रुति। वाक्यपदीय और योगवासिष्ठ दोनों ही अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थ हैं, अत इनमें काल के विषय में एक सा विचार उपलब्ध होना स्वाभाविक ही था।

५ सकल्पते पदार्थौघं पदार्थौघश्च तेन तु। ५।८३।१६

ज्ञान, अज्ञान, इन सभी का पृथक् अस्तित्व उस समय रह ही नहीं जाता।६ इन सबका ब्रह्म रूप में ही साक्षात्कार हो जाता है क्योंकि ये सभी के सभी ब्रह्म में बीजरूप में विद्यमान रहते हैं। जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उठती रहती हैं और उनके आकार में वृद्धि होती रहती है उसी प्रकार तत्तत्पदार्थों के रूप में ब्रह्म भी बढ़ता रहता है, उसका भी प्रपंच होता रहता है।७ भूत भविष्यत् आदि निस्सन्देह ब्रह्म का प्रपंच ही हैं। पर ब्रह्म स्वयं में अनादि और अनन्त हैं, वह न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है।८ काल देव ईश्वर रूप ब्रह्म का द्वारपाल है।९ उसी के माध्यम से वह कालरूप तमःप्रकाशादिरहित सब पदार्थों में व्याप्त महेश्वर१० अनेकानेक संसारों को उलटता पलटता रहता है। वह संसार की सृष्टि करता है, उसका विनाश करता है और पुनः इसकी सृष्टि करता है। इस प्रकार वह कौतुकवश अपने कार्य में रत रहता है।११ संसार अगाध कालसागर में डूबते उतराते रहते हैं। उत्पन्न हुई सृष्टियों के विनाश की वह प्रतीक्षा करता रहता है।१२ काल ब्रह्म की ही एक शक्ति है जो ब्रह्म से अभिन्न है (शक्तिशक्तिमतोरभेदात्) पर जिस प्रकार जल आवर्त बुद्बुदतरंगादि नाना रूपों को धरण कर लेता है

---

६. विद्यते वर्तमानत्वं भविष्यद्भूतता तथा।
बोधाबोधश्च नो सत्यं वस्तु-शान्तं किलाखिलम्॥ ६ (उ०)। ९९। ३४

७. ब्रह्म कालत्रयं तच्च ब्रह्मण्येव व्यवस्थितम्।
तरंगमालयाम्भोधिर्यथाऽऽत्मनि विजृम्भते
तथा पदार्थलक्ष्मोत्थमिदं ब्रह्म विवर्धते। ६ (उ०)। ११। १८-१९,

८. विष्वक्विश्वमजं ब्रह्म न नश्यति न जायते। ६ (पू०)। ५४। १७,

९. विवर्तितजगज्जालः कालोऽस्य द्वारपालकः। ६ (पू०)। ३८। १६,

१०. स महात्मा महेश्वरः।
तमः प्रकाशकलनामुक्तकालात्मतां गतः।
यः सौम्यः सुसमः स्वस्थस्तं नौमि पदमागतम्॥ ४। २२। ४१,

११. सूते संहरति क्षिप्रं पुनः सृजति हन्ति च।
जगन्ति बहुपर्यायैः काल एव कुतूहली॥ ६ (पू०) १२४। ५२,

१२. कालो वहत्मकलितसर्वनाशप्रतीक्षकः। ३। ८५। ३०,

इसी प्रकार यह शक्ति भी ज्ञत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, साक्षित्वादि के कारण अनेक रूपों को धारण कर लेती हैं और ब्रह्म से किंचिद् भिन्न हो जाती है।१३

योगवासिष्ठकार के मत में काल एक तत्व है। जिस प्रकार नदियां सैकड़ों होने पर भी समुद्र एक ही रहता है उसी प्रकार ऋतु, संवत्सर, अयन आदि अनेक होने पर भी काल एक ही रहता है।१४

चूंकि योगवासिष्ठकार ने काल को मात्र एक मानसिक कल्पना माना है इसलिये उनके विचार में काल की अनुभूति, प्रतीति अथवा अनुभव पर आधारित है। इसी कारण क्षण कल्प रूप में भी परिणत हो सकता है और कल्प क्षण रूप में भी।१५ जिसकी जैसी जैसी भावना रहती है उसका वैसा वैसा अनुभव होता रहता है। यदि आंख की झपकी में उसकी अनेक युगों की भावना रहती है तो उसके लिये आंख की झपकी ही अनेक युग बन जाते हैं। इसी प्रकार यदि अनेक युगों में उसकी आख की झपकी की भावना रहती है तो उसके अनेक युग आख की झपकी बन जाते हैं। दुखी व्यक्ति के लिये एक रात युग बन जाती है और सुखी व्यक्ति के लिये वही एक क्षण। जिसका मन समाधि में डूबा है उसके लिये न दिन है न रात।१६ योगवासिष्ठ का यह मत आज की आधुनिकतम विचारधारा के अत्यन्त निकट है। आइन्सटाइन

---

१३ एषा हि शक्तिरित्युक्ता तस्माद्भिन्ना मनागपि।
ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वसाक्षित्वादिविभावनात्॥
शक्त्यो विविध रूप कारयन्ति बहूदकम्॥ ६ (पू०) ३७। १९-२०

१४ एक एव भवत्यब्धि' स्रवन्तीनां शतैरपि।
एक एव भवेत्काल ऋतुसवत्सरोत्करै॥ ६ (उ०)। १७९। १४

१५ प्रतिभासवशादेव सर्वो विपरिवर्तते।
क्षण कल्पत्वमायाति कल्पश्च भवति क्षण॥ ३। १२१। १८

१६ येन येन यथा यद्यदा संवेद्यतेऽनघ।
तेन तेन तथा तत्तत्दा समनुभूयते॥
निमेषे यदि कल्पौघमविद परिविन्दति।
निमेष एव तत्कल्पो भवत्यत्र न संशय॥
दु खिनस्य निशा कल्प कल्पश्च भवति क्षण॥
यन्मुहूर्त प्रनेशस्य स मनोर्जीवित मुने॥ ३। ६०। १६, २०, २२, २५, २७,
ध्यानप्रक्षीणचित्तस्य न दिनानि न रात्रय॥

के मत के अनुसार काल व्यक्ति के अनुभव से सम्बद्ध है (Time is relative to an observer) यही उनके सापेक्षवाद (Theory of Relativity) का आधार है। योगवासिष्ठ ने कम से कम दो महत्वपूर्ण उपाख्यानों के माध्यम से[१७] इसी महत्वपूर्ण तथ्य का प्रतिपादन किया है।

सुषुप्ति अवस्था में ही इस काल्पनिक काल का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। उस स्थिति में जो कुछ भी दिखाई देता है वह सब स्वप्न नगर की तरह विलीन हो जाता है। पृथिवी, पर्वत, दिशाएं, क्रिया, काल, क्रम ये सब अस्तित्व रहित हो जाते हैं।[१८] इनमें से कुछ भी नहीं बच रहता। वही अद्वैतैक्य की स्थिति होती है।[१९] इस स्थिति में पारमार्थिक सत्ता अर्थात् ब्रह्म रूप में ही काल का साक्षात्कार हो सकता है।

---

१७. शुक्रोपाख्यान और गाधि-उपाख्यान।

१८. पुत्र शेषमशेषेण दृश्यमाशु विनश्यति।
यथा तथा स्वप्नपुरं सौषुप्तीं स्थितिमीयुषः॥
निर्विशेषेण नश्यन्ति भुवः शैला दिशो दश।
क्रिया कालः क्रमश्चैव न किंचिदवशिष्यते॥ ६ (उ०)। २१३। ५-६.

१९. अद्वैतैक्यं विभवमनं शान्तमात्मन्यवस्थितम्। ६ (उ०) २१. २४.

बोधा की रचनाओं का काव्य-रूप

चन्द्रशेखर

बोधा की रचनाओं में काव्य रूपों के दो रूप मिलते हैं—मुक्तक और प्रबन्ध। इनका विधिवत विश्लेषण रचनानुसार किया गया है।

इश्कनामा अथवा विरही सुमान दंपति विलास

उपर्युक्त दोनों नाम एक ही रचना के हैं।[1] बोधा ने स्वयं भी इसका उल्लेख किया[2] है। बहुत दिनों तक ऐसी मिथ्याधारणाएं भी प्रचलित रहीं कि इसी पुस्तक का एक तीसरा नाम भी है—विरह वारीश[3]। परन्तु यह धारणा अब सर्वथा निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। विरह वारीश अथवा माधवानल कामकदला का अलग से विवेचन किया गया है। प्रस्तुत रचना यथार्थ ढंग की प्रबन्ध मुक्तक कृति है। परन्तु इसे सर्वथा शुद्ध प्रबन्ध मुक्तक रचना भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इसकी उपस्थापना में बड़ी शिथिल सी प्रबंधात्मकता भी है। इसके अभिव्यंजना शिल्प का विश्लेषण इस प्रकार है —

१—सम्पूर्ण रचना को कवि ने खण्डों में विभक्त किया है। कुल खण्ड संख्या पांच है। परन्तु बोधा ने खण्ड शब्द का प्रयोग प्रथम तथा द्वितीय खण्डों में ही किया है। तीसरे चौथे, पांचवें खण्डों में खण्ड के स्थान पर अध्याय शब्द का प्रयोग हुआ है।

२—प्रथम खण्ड का प्रारम्भ "श्री गणेशाय नमः" से होता है।

३—प्रथम खण्ड के प्रथम दो दोहों में कवि ने रचना की प्रबंधात्मक उपस्थापना की है। शेष खण्ड में अधिकांश सवैयों का ही प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त सोरठा बरवै तथा एक कवित्त का भी प्रयोग हुआ है। खण्ड के अन्त में छन्द परिवर्तन भी हुआ है।

४—प्रथम खण्ड के सभी सवैये गेय ही हैं। उनमें मुक्तक कवि की सद्य स्फुरित भावुकता, समास चेतना और भाव विधायनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति हुई है।

५—प्रथम खण्ड के अन्त में 'इति प्रथम खण्ड' लिखा गया है।

६—दूसरे खण्ड के आरम्भ और अन्त में सवैया ही है। इसके अतिरिक्त बरवै और

---

१ हीरालाल द इलेवेन्थ रिपोर्ट आन द सर्च अव् हिन्दी मैन्युस्क्रिप्टस् फार द इयर १९२० २२, पृ० ४९।

२ इतिश्री इश्कनामा सुमान दंपति विलास चतुर्थोध्याय।

३. देखिए क्रम संख्या १ की खोज रिपोर्ट, पृ० संख्या ४९।

छन्द का भी प्रयोग किया गया है। परन्तु न तो आरम्भ में ही कोई मंगलाचरण है और न अन्त में ही खण्ड समाप्ति की कोई सूचना है।

७—तीसरे खण्ड के आरम्भ में 'खण्ड' शब्द के स्थान पर अध्याय शब्द लिखा गया है। इसमें आरम्भ और अन्त की टिप्पणी भी दी गई है। इसकी उपस्थापना और उपसंहार दोनों ही प्रबंधात्मक प्रकार के हैं।

८—चौथे खण्ड के आरम्भ में भी 'अध्याय' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। आरम्भ और अन्त में सवैया छन्द है। इसके अतिरिक्त बरवै और छन्द का भी प्रयोग हुआ है। अन्त में 'इतिश्री इश्कनामा विरही सुमान दंपति विलास चतुर्थोध्याय' दिया हुआ है।

९—पांचवे अध्याय का आरम्भ भी चौथे अध्याय की तरह हुआ है। आरंभ और अन्त में सवैये हैं। इसके अतिरिक्त एक दोहे का भी प्रयोग हुआ है। अन्त में चौथे अध्याय की तरह समाप्ति की लंबी टिप्पणी दी गई है।

१०—सम्पूर्ण रचना में सवैयों का ही सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। छन्द प्रयोग की तालिका इस प्रकार है :—

प्रथम खण्ड :—४ दोहे, १५ सवैये, ४ बरवै, १ सोरठा, १ कवित्त।

द्वितीय खण्ड :—३४ सवैये, ३ छन्द, ४ बरवै,

तृतीय खण्ड :—८ सवैये, १ दोहा, १ बरवै ।

चतुर्थ खण्ड :—२२ सवैये, ३ बरवै, २ छंद।

पंचम खण्ड :—४ सवैये, १ दोहा।

पांचों अध्यायों में प्रमुख छन्द सवैया ही है। बोधा अपने प्रणय में इतने गहरे जा चुके थे कि किसी भी विधान का पालन उनके लिए सहज नहीं था। वस्तुतः इश्कनामा में उनके प्रणय और शृंगारिक अभिरुचियों का व्यग्रतापूर्ण रूप मिलता है। जिसमें दण्ड विधान की स्व-भुक्त पीड़ा अत्यन्त मुखर हो अभिव्यंजित हुई है।[४] ऐसी अवस्था में उनसे नियम पालन की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। जैसा कि आरम्भ में बताया जा चुका है कि प्रस्तुत रचना न तो प्रबन्ध मुक्तक बन पाई है और न ही मुक्तक प्रबन्ध। इसमें बंधाबंध शैली को भी पूरी तरह नहीं अपनाया गया है। शिल्प की दृष्टि से इसे मुक्तक परिवार की स्वच्छन्द रचना कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

विरह वारीश अथवा माधवानल काम कंदला—उद्गम स्रोत :—विरह वारीश

---

४. वही, सन् १९१७-१९, पृ० २७।

अथवा माधवानल काम कदला बोधा की एक ही काव्यरचना के नाम हैं।५ उसका मूल कथानक संस्कृत साहित्य में किसी न किसी रूप में अवश्य ही प्रचलित रहा होगा। तभी आलम और बोधा ने इस बात की चर्चा की है, ६ जिसका संकेत कुछ अधिकारी विद्वानों ने भी किया है कि माधवानल कामकन्दला संस्कृत की एक अन्य प्रमकथा है।७ अथवा 'माधवानल नाटक'८ के रूप में प्रचलित था जिसकी एक प्रति अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित पड़ी है। परन्तु संस्कृत साहित्य के अन्य पुरस्कर्त्ता विद्वान मैक्डानल और विंटर नित्स आदि ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहासों में इस तथ्य की कोई चर्चा नहीं की। वस्तुत आलम और बोधा की धारणाए विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं, क्योंकि इनमें अनुसंधित्सा का सर्वथा अभाव था। बोधा ने माधवानल के कथानक का सम्बन्ध भोज और विक्रमादित्य के साथ साथ कालिदास से भी जोड़ दिया है। संस्कृत के अनुसंधित्सुओं ने इस सूत्र पर गम्भीरता से काम भी नहीं किया है। परन्तु उपर्युक्त धारणाओं से दो तथ्यों की निष्कर्ष रूप में स्थापना की जा सकती है —

१—माधवानल का प्रसंग संस्कृत साहित्य में कथा रूप में भी प्रचलित था।

२—तथा नाटक रूप में भी, कीथ ने इसी रूप की ओर संकेत किया है।

कालांतर में ये दोनों रूप लोक साहित्य की विभूति बन गए और विक्रम तथा भोज सम्बन्धी

---

५ (क) विरह वारीश माधवानल कामकन्दला चरित्र भाषा (रचना का शीर्षक) काशी ना० प्र० सभा, वाराणसी के संग्रहालय में सुरक्षित प्रति। प्रथम बार लखनऊ से प्रकाशित, जून १८९४ ई०।

(ख) खोज रिपोर्ट, १९२०-२३, पृ० ४९।

६, (क) सकल सिंगार बिरह कीरीति माधव काम कदला प्रीति।
कथा संस्कृतसुनि कुछ थोरी भाषा बांधि चौपाई जोरी। (आलम)
श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी (संपादक) हिन्दी प्रेम गाथा काव्य संग्रह, पृ० १८५।
(ख) सुन सुमान अब कथा सुहाई, कालिदास बहुरुचि सह गाई।
सिंहासन बत्तीसी माहीं पुतरीन कहीं भोजनृप पाही।
बोधाकृत माधवानल कामकंदला, पृ० ६।

७ डा० श्याम मनोहर पाण्डेय, मध्ययुगीन प्रेमाख्यान, पृष्ठ ८८।

८ कीथ ए हिस्ट्री अव् संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३९३।

जन कथाओं में जुड़ते गए। श्री बरदाचारी ने ऐसी उपस्थापना की पुष्टि की है।९ श्री कृष्णामाचारी इसके प्राचीनतम रूप की कल्पना ईसा की दशवीं शताब्दी में करते हैं।१० परन्तु श्री के० एम० मुन्शी के अनुसार श्री आनंदधर के माधवानल नाटक में इसका प्राचीनतम स्वरूप मिलता है, जिसका समय १३वी शताब्दी है।११ इसके मूल में कथासरित्सागर में आनेवाली 'वेताल पंचविंशतिका' तथा बाद की एक रचना 'द्वात्रिंशत्पुत्तलिका' की प्रेरणा है।१२ अतः 'वह वीर विक्रमादित्य की अनेकों कहानियों में से एक है'।१३

परम्परा एवं रचनाकाल :—उपर्युक्त विश्लेषण से निष्कर्ष रूप में यह प्रतिपादना की जा सकती है कि संस्कृत साहित्य में माधवानल का कथानक प्रचलित तो था परन्तु उसकी अधिक व्यापक स्वीकृति लोक साहित्य में ही होती रही जिसका समृद्ध विस्तार विक्रम सम्बन्धी जन कथाओं में मिलता है। हिन्दी में इसका सर्व प्रथम प्रयोग राजस्थानी भाषा में कवि गणपति ने वि० सं० १५८४ में किया१४ ; ब्रजभाषा में कवि माधव ने 'माधवानल कामकंदला रस विलास' की रचना वि० सं० १६०० में की।१५ अवधी भाषा में कवि आलम ने माधवानल काम कंदला की रचना वि० सं० १६४० में की।१६ उर्दू में इसकी रचना कालांतर में हुई। श्री मजहरअलीखाँ ने "माधोनल काम कुंडला" नाम से वि० सं० १८५७ इसका उर्दू शैली में अनुवाद किया।१७ इस प्रकार विभिन्न भारतीय भाषाओं में यह असूफी ढंग का विशुद्ध भारतीय प्रेमाख्यान प्रणीत होने लगता है।

---

९. बरदाचारी ; ए हिस्ट्री अव् संस्कृत लिटरेचर पृ० १२५।

१०. कृष्णमाचारी : ए हिस्ट्री अव् क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४७३।

११. (क) क० मा० मुंशी : गुजरात एण्ड इट्ज लिटरेचर पृ० २०५।
(ख) श्री कुमार सेन : इस्लामी बंगला साहित्य, पृष्ठ १२।

१२. डा० श्याम मनोहर पाण्डेय : माधवानल काम कंदला कथा का उद्गम (लेख) हिन्दी अनुशीलन, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, वर्ष ११ अंक २, पृ० २३।

१३. (क) डा० सत्येन्द्र, मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोक तात्विक अध्ययन।
(ख) माधवानल काम कंदला प्रबंध, भूमिका पृ० ७।

१४. गणपति कृत माधवानल काम कंदला, गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज पृ० ३३९।

१५. बोधा कृत माधवानल काम कंदला रस विलास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पुस्तकालय में सुरक्षित हस्तलिखित प्रति से उद्धृत।

१६. श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी प्रेम गाथा काव्य संग्रह, पृ० १८५।

१७. डा० एजाज हुसेन : उर्दू साहित्य का इतिहास (हिन्दी संस्करण) पृ० २२८।

कवि बोधा ने माधवानल कामकदला की रचना वि० सं० १८०९ में की थी।१८

कथानक —हिन्दी में माधवानल कामकदला के प्रथम प्रणेता कवि गणपति तथा बोधा के बीच अनेक ऐसे हिन्दी कवि हुए हैं, जिन्होंने प्रस्तुत कथानक को लेकर विविध प्रकार की रचनाए की हैं, जिनमें माधव कुशल लाभ, आलम, दामोदर, राजकेस आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। कुछ विद्वान आलम से पूर्व लाल कवि कृत 'माधवानल कथा' तथा बोधा से पूर्व जगन्नाथ रचित माधव चरित्र का होना भी मानते हैं।१९ इन सभी कवियों ने कथानक विस्तार में कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन अवश्य ही किए हैं परन्तु उसका मूल कथानक प्राय कम ही परिवर्तित हुआ है। उसकी चर्चा से पूर्व दो बातों पर विचार करना आवश्यक है—

१—पूर्व जन्म कथा का प्रयोग।

२—कथानक में अन्तर।

पूर्वजन्म कथा का प्रयोग —डा० श्याम मनोहर पाण्डेय की इस स्थापना से हम पूरी तरह सहमत हैं कि पूर्व जन्म की कथाए प्रेम को जन्म जन्म तक अमर बताने की दृष्टि से लिखी गयी जान पड़ती हैं।२० इसीलिए गणपति, वाचक कुशललाभ तथा बोधा प्रभृति कवियों ने अपनी अपनी रचनाओं में पूर्व जन्म के प्रसग सग्रथित किए हैं। परन्तु आलम के सम्बन्ध में उनकी यह धारणा तर्कपूर्ण नहीं कि उनकी रचना माधवानल काम कदला में पूर्व जन्म का प्रसग इसलिए प्रक्षिप्त जान पड़ता है कि 'पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस्लामी विचार धारा के अनुकूल भी नहीं है'।२१ जब कि वस्तु स्थिति यह है कि आलम के धर्म परिवर्तन का कारण भारतीय दर्शन से वैमत्य न हो कर शेख का प्रणय ही है। ऐसी अवस्था में धर्म परिवर्तन के बाद भी उनकी आस्थाए पूर्ववत् बनी रह सकती हैं। और यदि इस्लामी सिद्धान्तों की अनुकूलता ही देखनी है तब तो उनकी रचना में ऐसा कुछ प्रभूत रूप में मिल जाएगा जो इस्लामी विश्वासों के प्रतिकूल पड़ता है। आलम ने माधवानल कामकदला के आरम्भ में ही पारब्रह्म की वदना की है जो घटघट वासी है, जल थल में सर्वत्र विद्यमान है।२२ ऐसा विश्वास

---

१८ बोधाकृत माधवानल काम कदला (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से मुद्रित) पृ० १५।

१९ श्री अगरचन्द नाहटा, माधवानल कथा सम्बन्धी कुछ अन्य रचनाए (लेख) हिन्दी अनुशीलन, भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग, वर्ष ११, अक ४, पृ० ४०।

२०-२१—डा० श्याम मनोहर पाण्डेय मध्ययुगीन प्रेमाख्यान, पृष्ठ १०७।

२२—पारब्रह्म परमेश्वर स्वामी घटघट रहे सो अतरजामी।
घटघट रहे लखै नहि कोई जलथल रह्यो सर्बमय सोई॥
आलमकृत माधवानल कामकदला (हिन्दी प्रेमगाथा काव्य सग्रह में सपादित) पृ० १८८।

इसलामी विश्वास कि खुदा 'वाहदुलशरीक' है के सर्वथा विपरीत है। हमारी यह स्थापना कदापि नहीं कि आलम कवि की वह प्रति सर्वथा प्रामाणिक है, जिसमें पूर्व जन्म का प्रसंग दिया गया है।[२३] हमारा निवेदन तो मात्र इतना ही है कि डा० श्याम मनोहर के उपर्युक्त तर्क से उस प्रसंग की प्रामाणिकता खंडित नहीं होती है। तथा उस प्रति में पूर्व जन्म के प्रसंग की प्रामाणिकता की संभावनाएं और भी बढ़ जाती हैं।

बोधारचित माधवानल काम कंदला में पूर्व जन्म प्रसंग

बोधा ने पूर्व जन्म प्रसंगों की संयोजना में एक ओर परंपरा का पालन किया है, दूसरी ओर मौलिक उद्भावना भी संग्रथित की है।

१—परम्परा पालन में माधव और कामकंदला की पूर्वजन्म की कथाएं आती हैं। बोधा के अनुसार भगवान् श्री कृष्ण के द्वारिका चले जाने पर कामदेव अपनी प्रिया रति के साथ विरह विदग्धा गोपिकाओं को व्याकुल करने लगता है। गोपियों से अभिशप्त होकर कामदेव ने कलियुग में पुष्पावती नगरी के राजपुरोहित के घर माधव के रूप में जन्म लिया है। काम प्रिया रति परमावती के राजा रूक्मराय के घर कामकंदला के रूप में जन्म लेती है। वेश्या-ग्रह योग के कारण राजाज्ञा से उसे कटघरे में बंद कर नर्मदा में जल प्रवाह दिया जाता है। कोई वेश्या उसे निकाल लेती है तथा कन्या कंदला का लालन-पालन कर उसे नृत्य तथा संगीत में प्रवीण बनाती है जो बड़ी होकर राजा कामसेन के दरबार में राजनर्तकी के रूप में प्रतिष्ठा पाती है।

२—कथानक की मौलिक उद्भावनाओं में लीलावती के पूर्वजन्म का प्रसंग है, जिसकी चर्चा बोधा पूर्व प्रणीत किसी भी कामकंदलापरक आख्यान में नहीं मिलती है। एक ब्राह्मण प्रसिद्ध गणितज्ञ लीलावती से शास्त्रार्थ में परास्त हो कर उसे वैधव्य का शाप देता है। वह शिव की आराधना कर कामदेव को पति रूप में पाने का वरदान लेती है। फलस्वरूप उसका जन्म पुष्पावती नगरी में रघुदत्त ब्राह्मण के घर होता है। वरदान वश वह कामरूप माधव की प्रिया बनती है।

कथानक में अन्तर—बोधा रचित माधवानल कामकंदला में कथानक का स्वरूप पूर्व प्रणीत रचनाओं की अपेक्षा पर्याप्त परिवर्तित है जिसका परीक्षण दो दिशाओं में किया गया है :—

१—**नवीन संयोजना** :—बोधा ने मूल कथानक के परंपरित घटनाक्रम में सर्वथा नवीन घटनाओं को संग्रथित किया है। लीलावती सम्बन्धी सभी घटनाएं मौलिक हैं, जिसकी

---

२३. डा० हरिकान्त श्री वास्तव : भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य, पृष्ठ २२१।

सविस्तर चर्चा आगे की गई है। गणपति और आलम के काम कदला सम्बन्धी आख्यानो मे उनका सर्वथा अभाव है। इस प्रकार बोधा ने कथानक मे दो कथाओं का सयोजन कर इस रचना को पूर्ण प्रबन्धात्मकता प्रदान की है। मूल कथा मे परिवर्तन करने की बजाय उसमें नवीन प्रसग निबद्धित किए गए हैं।

२—परिवर्तित सयोजना (क)—बोधा ने परपरित कथानक क्रम मे कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया है। आंशिक परिवर्तन के दर्शन घटनाओं के विस्तार में अवश्य होते हैं, जो कि स्वाभाविक है। क्योंकि प्रत्येक प्रातिभ कवि अपने सयोजन को किंचित मौलिक ढग से ही प्रस्तुत करता आया है। नगरों मे पुष्पावती, कामावती, और उज्जैन का तथा पात्रों म गोविदचन्द्र, कामसेन विक्रमादित्य, माधव तथा कामकन्दला के नाम ही परम्परा से प्रयुक्त होते आए है। बोधा ने इनको यथावत् ही स्वीकार किया है। आलम ने गोविदचन्द्र के स्थान पर गोपीचन्द का नाम प्रयुक्त किया है। परतु बोधा ने गणपति द्वारा प्रयुक्त गोविद चन्द्र नाम को ही प्रयुक्त किया है। इसके अतिरिक्त और कोई विशेष परिवर्तन नहीं है। परन्तु बोधा ने लीलावती के प्रसग-सयोजन से कई नए नामों, स्थानों और नगरों को भी मूल कथा मे सम्रथित किया है जिसकी आगे सविस्तर चर्चा की गई है।

(ख) इसके अतिरिक्त बोधा ने परम्परा से चली आ रही कुछ घटनाओं के अनावश्यक विस्तार को कम किया है और कुछ घटनाओं को विस्तार दिया है। गणपति के प्रबध में माधव के रूप से गोविदचन्द्र की महारानी तक मोहित हो जाती है, आलम की रचना में एक स्त्री माधव के रूप दर्शन से इतनी बेसुध हो जाती है कि वह पति का भोजन थाली में परसने की बजाय भूमि पर परसने लगती है। बोधा ने इन प्रसगों को अपनी रचना मे स्थान नहीं दिया है। कामसेन द्वारा निष्कासित माधव गणपति के प्रबन्ध में कदला के घर एक रात रहता है, आलम की रचना में तीन रात रहता है और बोधा की रचना में बारह रात निवास करता है। वस्तुत बोधा ने घटनाओं को अपनी रुचि के अनुरूप सक्षिप्त और विस्तृत किया है।

(ग) कुछ एक घटनाओं मे रूप परिवर्तन के स्थान पर कोई अन्य प्रकार का परिवर्तन कर दिया गया है। आलम की रचना में महाराज विक्रमादित्य श्रीपति क्षत्री को दूत रूप मे कामदेव के पास भेजते हैं। और बोधा की कृति में यह काम बेताल करता है। ऐसी और अनेक घटनाए है।

कथानक रूढिया—कथानक रूढियों की अभिव्यजनात्मक क्षमताए जानने के लिए उसकी प्रयोग प्रक्रिया पर विचार करना आवश्यक है।

कथानक रूढियों को प्रयोग प्रक्रिया—प्रत्येक घटना अथवा कहानी की कथात्मक स्थूलता

में अभिप्राय की एक सूक्ष्मता अंतर्निहित रहती है। कुछ एक कथानकों में इसका रूप इतना समृद्ध रहता है कि अन्य समानांतर अनुभूत की अभिव्यक्ति के लिए उसका माध्यम के रूप में प्रयोग होने लगता है। 'समय परिस्थितियों अथवा मनःस्थिति और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए'२४ ये व्यवहार में प्रतिष्ठा पानें लगते हैं। इस प्रकार ऐसे प्रयोग माध्यम रूप में स्वीकृत होते रहते हैं जिनका कथानक को गति और घुमाव२५ देने के लिए साहित्यकार प्रचुर व्यवहार करते आए हैं। विद्वानों ने इन्हें 'अभिप्राय'२६ अथवा कथानक रूढ़ि २७ संज्ञा दी है' जो अलौकिक और अशास्त्रीय होते हुए भी उपयोगिता और अनुकरण के कारण कवियों द्वारा ग्रहीत होता है और बाद में चल कर रूढ़ि बन जाता है।२८ अतः शिल्प की दृष्टि से उनका विशिष्ट महत्व है क्योंकि वे 'सौन्दर्य बोध और अभिव्यक्तियों के माध्यम२९ विशेष हैं। रीतिकाल को दाय रूप में कथानक रूढ़ियों की एक समृद्ध परंपरा मिलती है जिसकी उपजीव्यता का कवियों ने पर्याप्त प्रयोग किया है।

माधवानल कामकंदला में कथानक रूढ़ियां :—कवि बोधा ने माधवानल कामकंदला में जिन कथानक रूढ़ियों को व्यवहृत किया है उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

(क) **संभावनाओं पर आधारित कथानक रूढ़ियां :—**

(१) शुक द्वारा संदेश वाहन :—माधव और कामकंदला शुक द्वारा पत्रव्यवहार करते हैं।

(२) शुक से संवाद :—निष्कासित होने पर बांधोगढ़ आते समय माधव की भेंट तथा बातचीत तोते से होती है। इसी प्रकार सन्देश लेकर गए तोते के साथ कामकंदला का भी वार्तालाप होता है।

(३) बादल द्वारा सन्देश संप्रेषण :—माधव बांधोगढ़ प्रवास के समय बरसाती मेघों द्वारा लीलावती को सन्देश भेजता है।

(४) लता वृक्षों से बातचीत :—इस कृति में ऐसे प्रसंग दो बार आए हैं।

---

२४. डा० धीरेन्द्र वर्मा (संपादक): हिन्दी साहित्यकोश, प्रथम भाग, पृष्ठ १८५।
२५. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ७४।
२६. कीथ : ए हिस्ट्री अव् संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३४३।
२७. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ७४।
२८. श्री व्रजविलास श्रीवास्तव : पृथ्वीराज रासो में कथानक रूढ़ियां, पृष्ठ २०।
२९. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्रीव्रजविलास लिखित, पृथ्वीराज रासो में कथानक रूढ़ियां (भूमिका) पृष्ठ १०।

दोनो बार माधव लीलावती के वियोग मे वृक्ष-वृक्षो और लताओं से उसका पता पूछता है पहली बार मिलन पूर्व तथा दूसरी बार मिलनोपरान्त दंडित होने पर।

अलौकिक कार्यों से सम्बधित कथानक रूढिया

१—देव पूजन – माधव वाटिका में लीलावती से भेंट होने पर भगवान् शकर से मिलन की प्रार्थना करता है।

(२) देवी सहायता —महाराज विक्रमादित्य जब जीवित ही चिता मे जलते हैं, तब वेताल भट्ट उनकी सहायता के लिए अमृत लेकर उपस्थित होता है।

(३) मृतकों को जीवित करना —वेताल अमृत द्वारा माधव और कामन्दला को जीवनदान देता है।

(ग) अतिमानवीय कार्यों से सबधित कथानक रूढिया —

(१) वशीकरण की क्षमता —माधव के रूप और वेणुवादन मे अपूर्व सम्मोहन है, नगरनारिया मत्र-कीलित सी होकर उसके पीछे भागती हैं।

२—शाप दण्ड —कामदेव तथा उसकी पत्नी रति गोपियों से शापित होकर माधव और कामन्दला के रूप में जन्म लेती हैं। लीलावती भी ब्राह्मण द्वारा अभिशप्त होती है।

(घ) आध्यात्मिक एव मनोवैज्ञानिक कथानक रूढिया —

(१) जन्मजन्मांतर का प्रेम सम्बन्ध—माधव और कामकदला पूर्व जन्म मे भी काम और रति रूप में पति-पत्नी ही थे।

(२) स्वप्न दर्शन—कामकदला से परिणीत होने पर माधव स्वप्न में ही विरहाकुल लीलावती के दर्शन कर उद्विग्न हो उठता है।

(३) सगीत द्वारा मिलन —माधव का लीलावती और कामन्दला मे सम्पर्क और प्रणय सगीत द्वारा ही आरम्भ होता है।

(ङ) सयोग से सबधित कथानक रूढिया —

(१) राज्य प्राप्ति —माधव कदला से विवाह कर बनारस का राज्य तथा अतुल धन प्राप्त करता है।

(च) सामाजिक रीति रिवाज सबधी कथानक रूढिया —

(१) पर कल्याण के हित आत्म बलिदान —महाराज विक्रमादित्य के चरित्र में ऐसी अनेक घटनाए आती हैं। वे माधव के हित के लिए कामावती तथा पुष्पावती पर आक्रमण करते हैं। माधव और कामकंदला की मृत्यु के लिए स्वय को उत्तरदायी मान कर जीवित ही भस्म होने के लिए उद्यत हो जाते हैं।

(२) स्वामी लाभ के लिए सेवक का कष्ट झेलना :—वैताल अपने स्वामी महाराजा विक्रमादित्य के लिए अनेक कष्ट सहता है।

(३) नीच जाति की स्त्री से प्रेम सम्बन्ध :—माधव कामकंदला नाम की वेश्या से प्रेम करने लगता है।

(४) शत्रु सभा में दूत भेजना :—महाराज विक्रम युद्ध पूर्व ही राजा काम सेन के पास वैताल को संधि-दूत के रूप में भेजते हैं।

(च) प्रणय जगत से संबंधित कथानक रूढ़ियां

(१) संयोग शृंगार की रूढ़ियां :—वाटिका में भट :—माधव और लीलावती की प्रथम भेंट वाटिका में होती है जो उन्हें प्रणय सूत्र में बाँध देती है।

(२) रूप चित्रण :—बोधा ने लीलावती तथा काम कंदला के अनिंद्य सौन्दर्य का सविस्तार शिखनख मूलक वर्णन किया है।

(३) पत्र लेखन :—बोधा ने मध्यस्थ रूप में सुमुखी का चरित्र घढ़ा है, जो लीलावती का दोहा लेकर माधव के पास तथा माधव का सन्देश लेकर लीलावती के पास जाती है।

(४) रति क्रीड़ाएं :—बोधा ने माधव और लीलावती तथा माधव और कामकंदला में बड़े ही विस्तृत संभोग चित्र खींचे हैं।

(५) सखी द्वारा मिलन प्रबन्ध :—सुमुखी सखी ही माधव को लीलावती के घर लेकर आती है तथा उन्हें एक दूसरे से मिलाती है।

(छ) वियोगशृंगार की रूढ़ियां

(१) दस दशाएं :—प्रस्तुत रचना में दसो दशाओं के तो केवल संकेत ही मिलते हैं, परन्तु मूर्च्छा और मरण के कई प्रसंग अवश्य मिल जाते हैं। माधव के निष्कासन के समय लीलावती वेसुध हो जाती है। कामकंदला माधव-मृत्यु की बात सुन प्राण त्याग देती है।

(२) प्रकृति को उपालम्भ :—लीलावती और कामकंदला को विरह में प्रकृति का उद्दीपनकारी रूप जलाता है, अतः वे उसके विविध उपकरणों को उपालंभ भी देती हैं।

(३) नायिका को सोए छोड़ कर चले जाना :—माधव कामकंदला को सोते छोड़ चला जाता है।

(ज) शिल्प सम्बन्धी कथानक रूढ़ियां

(१) देवस्तुति :—बोधा ने पुस्तकारंभ में ही गणेश श्रीकृष्ण तथा शंकर की वंदना की है।

(२) आश्रय दाता स्तुति —रचना के प्रथम तरग मे ही महाराज छत्र सिह तथा सेनसिह की प्रशसा की गई है।

(३) रचना उद्देश्य —बोधा ने प्रथम तरग ही मे रचना प्रणयन का उद्देश्य भी बताया है।

(४) नायक नायिका वर्णन —बोधा ने स्वच्छन्द रूप मे नायकों, नायिकाओं तथा स्त्रियों और सखियों के विविध भेदों का भी उल्लेख किया है।

(५) बारह-मासा वर्णन —बोधा ने लीलावती के विरह वर्णन में बारह मासा का भी सयोजन किया है।

उपर्युक्त कथानक रूढियों के सयोजन से बोधा ने माधवानल कामकदला के कथानक को गति और मोड दिए हैं। उसके विकास की दिशाओं को खोला है तथा निर्वाह को सुरुचिपूर्ण बनाया है। इन अनेक विध अभिप्रायों की अभिव्यजक प्राणवत्ता से कथा की प्रबन्धात्मकता को उचित सघटना प्रदान की गई है। अत शिल्पात्मक दृष्टि से इनकी अर्थता महान है।

कथानक रूढियों में तो मौलिकता प्रदर्शन की कोई भी सभावना नहीं रहती है परन्तु उनके सयोजन मे ऐसी पर्याप्त सभावनाए बनी रहती है। बोधा ने परपरित रूढियों के सम्रथन में पूर्ण स्वच्छन्दता से काम लिया है। अत उनका रूप परपरित भले ही हो परतु उनका प्रयोग पर्याप्त नवीन है, जो उनकी शिल्प कुशल चेतना का परिचायक है।

(क) माधवानल कामकदला की शिल्प योजना

समस्त रचना ३१ तरगों में बटी है। सिवाय तरग सख्या १, ५, ६, १२, २४, २५ के शेष सभी तरंगों का आरम्भ मे ही नामकरण किया गया है।३० तरग २६ को छोड़ कर

---

३० बोधाकृत माधवा ०का० क० के तरगों के नाम
प्रकोष्ठों में तरग सख्या दी गई है—

(२) इस्क का रजनाम (३) इस्क वर विक्रम नाम (४) अोवल इस्क नाम।
(७) इस्क मुहब्बत नाम (८) इस्क लज्जा नाम (९) इस्क सारखी नाम।
(१०) इस्क आतशी नाम (११) इस्क कहर ख्याल नाम (१२) इस्क सहेली।
(१४) इस्क मिजाजी (१५) इस्क मस्ताना (१७) इस्क मिजाजी।
(१७) इस्क पोस्तनाम (१८) इस्क थका नाम (१९) इस्क दो टूक।
(२०) लोह चुबकनाम इस्क(२१) इस्क कुजनाम (२२) इस्क पनाहमा।
(२३) इस्क नौबत नाम (२६) लीलावती बारहमासा (२७) इस्क यराम नाम।
(२८) इस्क गुजरा नाम।

सभी के नाम में 'इश्क़' शब्द अनिवार्यतः आया है। तरंग संख्या १४ और १६ को एक ही नाम दिया गया है। सभी तरंगों को ९ खण्डों में बांटा गया है।३१ सभी खण्डों में एक समान तरंग संख्या नहीं है।३२ नीचे उद्धरण दो के छप्पय में खण्डों के जो नाम दिए गए हैं, वे रचना में यथा स्थान दिए गए नामों, से जो कि नीचे उद्धरण तीन में दिए गए हैं, पूरी तरह मेल नहीं खाते। छप्पय में अभावती खण्ड की कहीं चर्चा नहीं है। संभवतः बोधा ने एक ही स्थान के दो भिन्न नामों अभावती कामावती का प्रयोग एक ही खण्ड के लिए किया हो, ऐसी अवस्था में खण्ड संख्या ७ बन जाती है। खण्डों और तरंगों के सर्वेक्षण से एक और अगठन पकड़ में आता है कि कई खण्डों की संश्लिष्ट इकाई नहीं है। वे एक तारतम्यहीनता में बिखरे पड़े हैं। ऐसी अव्यवस्था के लिए बोधा की स्वच्छन्द प्रकृति और रचना समय की विरह विदग्ध मनःस्थिति ही उत्तरदायी मानी सकती है। पुस्तकारम्भ में 'श्री गणेशायनमः के नीचे लिखे प्रथम खण्ड पूर्वार्द्ध भाग' में संकेत मिलता है कि रचना का उत्तरार्द्ध भी अवश्य ही होगा। परन्तु किसी भी अन्य खण्ड के साथ ऐसी सूचना नहीं दी गई है।

शिल्प की दृष्टि से प्रथम खण्ड, प्रथम तरंग के आरम्भ में दिए गए कुछ वर्णनों का व्योरा इस प्रकार है :—

१—गणेश वंदना :

---

३१. प्रथम शाप कन बाल, द्वितिय आरंड खंड गन।
पुनि काम वत देश बेस, ज्ज्जेन गवन मन।
युद्ध खंड पुनि गाह रुचिर शृंगार बखानो।
पुनि बहुधा बन देश, न उम बर ज्ञान बखानो।
बोधाकृत माधवानल कामकंदला, पृष्ठ २।

३२.

खण्ड	तरंग संख्या
१—शाप खण्ड	१, २, ३, ४, ११
२—बाल खण्ड	५, ६, ७, ८
३ आरण्य खण्ड	९, १०, १२।
४—अभावती खण्ड	१३।
५—कामावती खण्ड	१४, १५, १६।
६—उज्जैन खण्ड	१७, १८, १९, २०।
७—युद्ध खण्ड	२१, २२, २३, २७।
८—शृंगार खण्ड	२४, २५, २६, २८, २९, ३०, ३१।

२—खण्ड भाग तथा तरग सूचना।

३—मगलाचरण—गणेश, स्तुति।

४—कृष्ण तथा शंकर वदना।

५—तरग की घटनाओं की सूचना।

६—कृष्ण वदना।

७—काव्य रचना की प्रेरणा।

८—बुँदेलखण्ड के महाराज छत्र सिह की प्रशस्ति।

९—बोधा की अपराध स्वीकृति।

१०—अनेक रियासतों मे भ्रमण।

११—महाराज खेत सिह की प्रशसा।

१२—सुमान की महिमा।

१.—सुमान के अनुरोध से कथा कथन।

१५—वक्ता श्रोता शैली में कथारम्भ।

(क) सुभावन उवाच।

(ख) विरही वाच्य।

१५—अन्त में एक दोहा

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि बोधा ने प्रबन्ध की अधिकांश प्रारभिक परम्पराओं का पालन किया है। परन्तु यहाँ दो बार कृष्ण की वदना कर बोधा ने अपनी स्वच्छन्द प्रवृति का भी परिचय दे दिया है। 'सुमान की महिमा' तथा अपने अपराध की स्वीकृति के वर्णन से उन्होंने स्वच्छद प्रणय की साहसिकता का परिचय दिया है। सुमान को ही काव्य प्रणय की मूल प्ररणा भी माना है। इस प्रकार समस्त कथा का विस्तार सुमान और विरही बोधा की सवाद शैली में होता है। सभवत श्रीतुलसी की वक्ता—श्रोता शैली ही बोधा के सम्मुख रही हो।

बोधा ने सभी तरगों में उसमे वर्णित घटनाओं की पूर्व सूचना नहीं दी है। और न ही सभी तरगों का एक समान विस्तार हुआ है। वस्तुत प्रेमाख्यान मूलक प्रबन्धों की बहिरग योजना की अपनी अलग विशिष्टताए है। उनमें सर्गों और कांडों की आभिजात्य परपरा को स्वीकार नहीं किया गया है। गणपति ने अपने माधवानल कामकदला प्रवन्ध में सम्पूर्ण कथानक को आठ अगों में विभाजित किया है। प्रत्येक अग का नामकरण किसी प्रसग विशेष के आधार पर किया गया है। आलम ने अपनी रचना माधवानल कामकदला को खण्डों मे

बांटा है और प्रत्येक खण्ड का नामकरण घटनाविशेष के आधार पर किया है। बोधा ने खण्ड और तरंग योजना को स्वीकार किया है।

अन्य विविध शैलियों का संयोजन :—बोधा ने परम्परा से चली आ रही अनेक शैलियों द्वारा कथानक के विविध प्रसंगों को सुरुचिपूर्ण विस्तार दिया है। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

(१) शिखनख वर्णन :- बोधा की सौन्दर्य चेतना आंतरिक सौन्दर्य चित्रण को अपेक्षा बाह्य रूप की मांसलता के निरूपण में अधिक रमी है। उन्होंने पुरुष और स्त्री दोनों के शिखनख का वर्णन किया है। भगवान श्रीकृष्ण के ऐसे वर्णन में अनावश्यक विस्तार तो है, परन्तु उसमें सादृश्य योजनाओं का भव्य रूप मिलता है। वह अन्य वर्णनों की अपेक्षा अधिक शालीन है। माधव का भी शिखनख वर्णन हुआ है। परन्तु कवि ने सभी अंगों को चित्रित नही किया है। लीलावती के ऐसे वर्णन में विभिन्न प्रसाधनों का भी वर्णन है। परन्तु उसकी अपेक्षा कामकंदला का शिखनख वर्णन अत्यधिक व्यापक और कलात्मक भी है। उसे नायिका होने की अतिरिक्त प्राथमिकता दी गई है। कवि ने उसके एक एक अंग का विस्तृत वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त बोधा ने विभिन्न प्रकार की नारियों के चित्रण में भी शिखनख का वर्णन किया है। यह वर्णन अलग से एक-एक अंग का भी है और सभी अंगों का एक साथ भी है। बोधा ने जिन अंगों का अधिकांश वर्णन किया है, वे इस प्रकार हैं :

मुख मण्डल, केश, सीमांत, बिंदी, ललाट, तिल, कपोल, भृकुटी, नयन, अपांग, श्रवण, नासिका, ओंठ, दांत, वाणी, कंठ, ग्रीवा, बाहु, हाथ, अंगुलि, नख, वक्षस्थल, नाभि, रोमावलि पृष्ठ, कटि, जघन, नितंब, चरण, नख तथा गमन, आदि आदि।

संयोग वर्णन :—बोधा के संयोग वर्णन में अनेक समागम प्रसंग आते हैं, जो कि भारतीय दृष्टि से वर्जित नहीं हैं। क्योंकि संस्कृत की कुमारसम्भव, नैषध-चरित तथा गीतगोविंद प्रभृति रचनाओं में रति प्रसंगों के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। बोधा की स्वच्छन्द चेतना ऐसे प्रसंगों में इतनी अधिक रमी है कि उनके चित्रण में अनासक्ति तथा तटस्थता का निर्वाह नहीं कर पाए। इन प्रसंगों में सुरति पूर्व कामजन्य चेष्टाओं से लेकर सुरति तथा सुरतांत चेष्टाएं चित्रित हुई हैं। जिनका सविस्तर वर्णन बिंब योजना के अन्तर्गत किया जा चुका है। इनके निरूपण में भी बोधा की उन्मुक्त भोग तथा निर्बाध रमण की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, अमर्यादित प्रणय तथा परिणय पूर्वलैंगिक सम्बन्धों की स्थापना का कवि ने निस्संकोच प्रतिपादन किया है। कवि का नायक माधव, लीलावती तथा कामकंदला के साथ परिणय से पूर्व ही रति क्रीड़ाएं करता है। माधवानल कामकंदला में वर्णित ऐसे प्रसंग एक हल्की

रसिकता का परिणाम है, जो अपनी विद्रूप नग्नता से पाठक के मन में विरुचि जगाने लगते हैं।

वारहमासा वर्णन —सस्कृत साहित्य मे वारहमासा वर्णन नहीं मिलता है। क्योंकि उसमें षट्‌ऋतु वर्णन जैसी अभिजात्य काव्य-शैलियों की ही प्रतिष्ठा सम्भव थी। वारहमासा जैसी अनाभिजात्य काव्य-शैली का उद्‌भव और विकास प्राकृतों और अपभ्रंश मे ही होना है, जो कि षट्‌ऋतु की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक और यथार्थ है। षट्‌ऋतुओं का भारत के सभी भागों में एक समय में एक जैसा रूप नहीं रहता है तथा एक ऋतु एक ही स्थान पर भी सारे समय एक जैसी नहीं रहती है। अत इसमें परम्परा का आग्रह अधिक रहता आया है। 'परन्तु वारहमासा का वर्णन देश-काल की वडी आवश्यकता के अनुरूप हुआ है। इसीलिए उसमें यथार्थ चित्रण की ओर ही कवि की भी दृष्टि रही है।[३३] इसमें देश काल का अपना रूप रहता है तथा इसमें भावनाओं की सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाओ-प्रतिक्रियाओ को पकडने और परखने की अधिक क्षमता है। अत इसका अभिव्यजनात्मक शक्ति कोश अधिक व्यापक सूक्ष्म तथा विशद है।

जायसी ने सयोग वर्णन के लिए षट्‌ऋतु का तथा वियोग में वारहमासा का वर्णन किया है। इसी प्रकार रीतिबद्ध कवियो ने इन दोनो शैलियो का एक साथ प्रयोग किया है। वोधा ने षट्‌ऋतु वर्णन तथा वारहमासा का दो रूपों में प्रयोग किया है। ऋतुओ तथा मासों का मिला-जुला निरूपण तथा केवल वारहमासा सयोजन माधव और काम-कन्दला के विरह के लिए प्रथम प्रकार सयोजन हुआ है तथा लीलावती के विरह प्रतिपादन के लिए दूसरे प्रकार की सयोजना हुई है। वोधा ने ऋतुओं मे वर्षा, शरद और वसत का ही अधिकांश चित्रण किया है तथा मासों मे सभी मास आ गए हैं। विरहाभिव्यजना की इस शैली द्वारा प्रोषितपतिकाओं की प्रत्येक मास के अनुसार परिवर्तित मनःस्थितियों का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। ऋतुओं और मासों मे प्रकृति के विविध रूप उद्दीपक वन कर ही आए हैं। इस दिशा में वोधा की वडी विशेषता यह है कि उन्होंने मानव स्वभाव का उचित अध्ययन कर उसे पर्याप्त कुशलता से चित्रित किया है।

नायक-नायिका वर्णन नायक नायिकाओं के विविध रूपों द्वारा उनके मनोवैज्ञानिक अध्ययन का प्रयत्न किया गया है। रीतिकालीन रीतिबद्ध धारा में इसकी स्थूलता वहुत ही प्रचारित होती है। स्वच्छन्द कवियो की इसके प्रति अरुचि रही है। उन्होंने नायक

---

३३ डा० श्रीकृष्णलाल वारहमासा (लेख) जर्नल अव द वनारस हिन्दू युनिवर्सिटी जेनरल सेक्सन, जिल्द २, अक १, १९५२-५३, पृ० ५१।

(क) कवित्त, सवैया, छप्पय बंध।

(ख) दोहा, चौपाई,

इनके अतिरिक्त बोधा ने और भी अनेक छन्दों का प्रयोग किया है।

माधवानल कामकंदला का स्वरूप : बोधा ने इस कथानक को पूर्ण प्रबन्धात्मक रूप दिया है, जिसमें दो कथाएं हैं। माधव और कामकंदला तथा लीलावती के पूर्वजन्म के प्रसंग भी इसमें जुड़े हैं। इस प्रकार इसका कथानक प्रबन्ध रचना के लिए पर्याप्त है।

नायक-नायिका निर्णय :— इसका नायक तो अविवाद्य रूप में पूर्व जन्म का कामदेव माधव ही है। वह ब्राह्मणकुलोत्पन्न, संस्कारवान्, कलाविद् संगीत निष्णात अत्यंत रूपवान युवक है। जिसमें साहस स्वाभिमान अनुराग आदि धीर ललित नायकोचित गुण हैं। नायिका की दृष्टि से कामकंदला और लीलावती दोनों विचारणीय हैं। कामकंदला के पक्ष में दो बातें आती हैं। उसका पूर्व जन्म काम-पत्नी रति होना तथा रचना के नामकरण में माधव के नाम के साथ साथ कामकंदला का नाम जुड़ना। वैसे तो माधव लीलावती के सम्पर्क में आने से पूर्व ही आ जाता है परन्तु यह बात इतनी महत्वपूर्ण नहीं। परन्तु कंदला के नायिका रूप के विरूद्ध जो बातें लगतो हैं, वे हैं, उसका राजनर्तकी तथा वेश्या द्वारा पालित होना। इनके निराकरण के लिए दो बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि कंदला वस्तुतः राजपुत्री है, दूसरा यह कि गणिकाओं को नायिका-रूप प्रदान करने की स्वीकृत-परम्परा संस्कृत साहित्य से चली आ रही है। संस्कृत रचना मृच्छकटिक में वसन्तसेना, प्राकृत रचना 'वसुदेव हिंडी' में वसंततिलका, कथासरित्सागर' में मदनमाला आदि ऐसी ही वेश्याएं हैं, जो नायकों के प्रति एकनिष्ठ हो सत्याचरण करने लगती हैं। वैसे कामकंदला के चरित्र में पूर्ण व्रतशीलता, साध्विता और नारी-सुलभ शील है। वह लीलावती के प्रति तनिक अनुदार नहीं। अतः वह निर्विवाद रूप से प्रस्तुत प्रबन्ध की नायिका है। लीलावती उप-नायिका के रूप में आती है। वह अत्यन्त विदुषी कला-निपुण और भाव-प्रवण नारी है, जो अपने प्रणय-संकल्प में अन्त तक अडिग रहती है। इस प्रबन्ध का एक अन्य प्रभावशाली चरित्र महाराज विक्रमादित्य का है जो 'दुख भंजक' संज्ञा को सार्थक करते हैं।

मूल्यांकन :— प्रस्तुत रचना में प्रवन्ध की अन्तरंग चेतना का पर्याप्त पालन हुआ है। इसका कथानक लोक विश्रुत है। और नायका-नायिका भी संभ्रान्त कुलोद्भव हैं, प्रमुख रस श्रृंगार के साथ अनेक अन्य रसों का वर्णन भी हुआ है। बहिरंग लक्षणों का भी अधिकाधिक निर्वाह हुआ है। अतः प्रबन्ध के बहिरंग और अंतरंग की अधिकांश अनिवार्यताओं का इसमें पालन हुआ है। जहां कहीं जो भी अतिक्रमण हुआ है वह बोधा जैसे बंधनमुक्त प्रणयशील

कवि के लिए सर्वथा क्षम्य है। जैसी मनस्थिति मे उन्होंने प्रबन्ध काव्य का प्रणयन किया है। उससे अधिक सफल निर्वाह की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती थी। शिल्प-सयोजन सपादन और निर्वाह आदि की दृष्टि से यह रचना स्वच्छन्द काव्य-धारा की ऐसी महत्वपूर्ण उपलब्धि है, जिसकी अन्तरग चेतना मे स्वच्छन्द धारा का अप्रतिबधित जीवन-दर्शन है। और बहिरग चेतना में व्यवस्था की प्रबन्धपटुता है। अत यह भारतीय प्रेमाख्यानक परम्परा का एसा असूफी प्रबन्धकाव्य है, जिसमें सूफी प्रभावों को सर्वथा तो नकारा नहीं कहा जा सकता परन्तु उसके किसी स्थूल प्रभाव को अस्वीकार अवश्य ही किया जा सकता है।

निष्कर्षत यह स्पष्ट ही है कि बोधा ने मुक्तक और प्रबन्ध दोनो रूप विधाओ का प्रयोग किया है परन्तु इनमे से किसी में भी कलात्मक भव्यता का प्रकृष्ट रूप नहीं मिलता है।

शिल्पी—विश्वरूप वसु

मगही लोकगीतों में पौराणिक संदर्भ

कल्याणेश्वरी वर्मा

मगही लोकगीत एवं कथाओं में कुछ ऐसे कथा-तत्त्व मिलते हैं, जिनका संबन्ध केवल लोकवार्ता से ही नहीं, पौराणिक कथाओं से भी है। लोककवि केवल अपनी कल्पना से कथा सूत्र को ही नहीं जोड़ता है, वल्कि यदा-कदा पुराणों से भी कथा लेकर उसे लोकरंग में रंजित कर उपस्थित करता है। यह कहना कठिन है कि लोकमानस से तथ्य ग्रहण कर पौराणिक कथायें पनपीं या पुराणों से लोकवार्ता प्रभावित हुई। लोकवार्ता उतनी ही पुरानी है जितनी सृष्टि। लोकवार्ता-तन्तु समस्त लोक में व्यापक रूप से फैला हुआ है। अतः यह असम्भव सा जान पड़ता है कि पुराण रचयिताओं ने इन कथा-सूत्रों से तटस्थ हो पुराणों की रचना की होगी। साथ ही इतना तो कहा ही जा सकता है कि आदिम अभिव्यक्तियाँ ही सभ्य मानव द्वारा अपनायी जाकर परिष्कृत होकर साहित्य के रूप में विकास पाती हैं। वेदों के निर्माण के मूल में भी यही प्रवृत्ति पायी जाती है। पुराणों का आविर्भाव वैदिक काल के पश्चात् होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि लोक-जीवन में प्रचलित कथाओं ने ही पौराणिक स्वरूप ग्रहण किया। इस सम्बन्ध में डा० सत्येन्द्र का भी मत है कि "लोकवार्ता, लोकतत्त्व अथवा लोकाभिव्यक्ति की लोकभूमि पर समस्त पुराण साहित्य निर्मित हुआ।"[१]

रामकथा :—पौराणिक साहित्य में शिव-ब्रह्मा, विष्णु आदि के अतिरिक्त राम और कृष्ण दो महान् पुरुष हैं, जिनके नाना रूपों का वर्णन पुराणों में पाया जाता है। यहाँ राम और कृष्ण दोनों को अवतारी पुरुष माना गया है। परन्तु लोक-जगत् के राम और कृष्ण अवतारी पुरुष नहीं, साधारण पुरुष हैं। यहाँ तक कि लोक में प्रत्येक नायक राम हैं, और नायिका सीता। पुराणों में राम को विष्णु का अवतार माना गया है।[२] लोकजगत में रामाख्यान अत्यन्त पुरानी वस्तु है। मगही लोक-गीत भी इससे अछूता नहीं है। यहाँ भी राम के विभिन्न स्वरूपों एवं कृत्यों का वर्णन उपलब्ध है। यहाँ राम का व्यक्तित्व सामान्य पुरुष की भांति है। राम जन्म से लेकर सीता के पाताल प्रवेश तक की कथा मगही लोक

---

१. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, पृ० ६२।

२. (क) विष्णु पुराण—अंश ४, अध्याय ४-८०।

(ख) पद्म पुराण—उत्तर खण्ड, अध्याय २४२।

(ग) मत्स्य पुराण—१२-४९।

(घ) वायु पुराण—८८-१८३-८४।

(च) ब्रह्माण्ड पुराण—३-६३-१८४।

गीतों में पायी जाती है, पर यत्र तत्र बिखरी हुई है। यह कथा रामायण की भांति एक ही ग्रन्थ मे आवद्ध नहीं है। लोकगीत में कौशल्या, कैकेयी, और सुमित्रा जडी पीस कर पीती हैं, जिससे राम, लक्ष्मण आदि चारो भाइयों का जन्म होता है।[3] रामायण मे दशरथ द्वारा किए गए यज्ञ का चरु या पायस खाने से उनकी रानियों का गर्भवती होना बताया गया हैं।[४] दोनों प्रसग एक ही हैं। लोक कवि चरु के स्थान पर किसी जड़ी का उल्लेख करता ह, यह स्वाभाविक ही है। क्योंकि चरु साधारण लोक की कल्पना के परे की वस्तु है, यहाँ जडी ही प्रतिदिन औषधि के रूप मे प्रयुक्त होती है। पुत्र जन्म की खुशी में राजा दशरथ अयोध्या का राज्य तक लुटाने को कहते हैं। कौशल्या एव सुमित्रा भी इससे सहमत होती है, परन्तु कैकेयी भरत के लिए कुछ रख कर लुटाने को कहती है, क्योंकि प्रारम से उन्हें भरत के लिए राज्य प्राप्ति की चिन्ता है।[५] कहीं-कहीं राम-वनवास का उल्लेख पडितों द्वारा कुण्डली विचार कर किया गया है।[६] पुराणों एवं वाल्मीकि रामायण में राम वनवास का कथन कैकेयी स्वय नहीं करती, बल्कि मथरा के बहकावे में आकर करती हैं।[७] कहीं यह कथन मथरा के कठ में सरस्वती उपस्थित हो करवाती हैं, यहाँ सम्पूर्ण घटना देवी है। परन्तु लोक-मेधा ऐसी दैवी घटना की कल्पना नहीं कर पाती है। उसने तो समाज मे प्रचलित स-पत्नियों की सहज ईर्ष्या भावना को व्यक्त किया है। पुत्र प्राप्ति के लिए कौशल्या द्वारा किए गए व्रतादि का वर्णन समाज मे प्रचलित विभिन्न लौकिक आचारों को प्रकट करता है। कौशल्या साधारण नारी की भांति बधापन से त्राण पाने के लिए पुत्र की कामना करती हैं, तभी तो कहती है—

छुटल्इ सासु जी के बोलहन, ननद जी के ठोलहन हे।
लल्ना, छुटल्इ बँझिनियाँ केरा नाम, बलइया से राम बन जइहें हे।

इसी प्रकार राम के मुण्डन के गीत मे भी कैकेयी की ईर्ष्या-भावना परिलक्षित हाती हे।[८]

---

३ स० डा० विश्वनाथ प्रसाद—मगही-सस्कार गीत, पृष्ट ४६।

४ वाल्मीकि रामायण—बालकाण्ड, १६ वाँ सर्ग।

५ सउरियाँ बोलथी कउसिल्या रानी, सुनु राजा दशरथ है,
दिल खोलिए अयोध्या लुटाव, तोहरे घर राम भये।

६ सउरिये बोलथी कैकयो रानी सुनु राजा दशरथ हे।
रखी जोखी भजोध्या लुटाव भरथ कुछु पावथि, हे।

७ वाल्मीकि रामायण—अयोध्या काण्ड, सर्ग ११।

८ राजा रामलखन जगल सेनन, मरत करव मुडन हे।

राम विवाह का प्रसंग लोक-गीतों में भी पौराणिक-कथा के अनुरूप आया है। जनक जी का प्रण,९ राम का धनुष भंग,१० परशुराम का रोष प्रकट करना,११ लक्ष्मण का परशुराम को चिढ़ाना,१२ राम का समझाना१३ और परशुराम का शान्त हो आशीष देना१४ आदि प्रसंग पुराणों१५ के अनुरूप हैं। राजा जनक के प्रण का कारण सीता द्वारा धनुष को उठा कर उस स्थान को लीपना बताया गया है। परन्तु इन प्रसंगों में लोक-कवि अपनी कल्पना से रंग भरने में नहीं चूकता। रामायण में राम और सीता का मिलन जनक की पुष्पवाटिका में सीता के गौरी-पूजन के अवसर पर दर्शाया गया है। लोक-कवि ने राम और सीता का मिलन बाग में दिखाया है, पर सीता को झूला झूलते देख राम को छेड़खानी करते हुए। घर लौट कर सीता मा से सारा वृत्तान्त कह सुनाती हैं। मा प्रसन्न हो आशीर्वाद देती हैं।१६ दशरथ का बारात सजाना एवं सभी को बारात में साथ देने के लिए निमंत्रण देना, राम का माली के यहाँ जाकर "मौर" माँगना एवं बारात प्रस्थान आदि लौकिक आचारों को राम कथा के साथ जोड़ दिया गया है। इन कथाओं की कल्पना लोक-कवि राम को साधारण धरातल पर रख कर करता है। बल्कि यों कहना चाहिए, कि प्रत्येक पुरुष राम और प्रत्येक स्त्री सीता के रूप में वर्णित है। विवाह के पश्चात् सीता जनक को प्रणाम करती हैं। जनक जी आशीर्वाद तो देते हैं, पर साथ ही वनवास की बात भी कहते हैं।१७ राम यह सुनकर

---

९. राजा जनक जी कठिन कहलन, कठिन प्रण ठानी लेलन हो भाई।

१०. उठलन रामचन्द्र गुरु पहर लागी के, धनुष कइलन नव खंड गे भाई।

११. एक कोस आयेलन रामजी, दोसरे कोस आयलन, तेसरे भेंटले परसुराम ॥
हमरे बरल सीता केरे विआहन, हमें मारत धनुष चढाय ॥

१२. एतना बचन जब सुनलन लछुमन सुनु मुनी जी बचन हमार।
हमहुं जुआन धनुष बड़ी बूढ़ा, छुअइते भेलो तीन खंड ॥

१३. एतना बचन जब सुनलन सिरी राम जी सुनु मुनि जी बचन हमार ॥
मैं तवेदार उजुर किओ सामी, बालक छमुँ अपराध ॥

१४. एतना बचन जब सुनलन परसुराम जी मन ही से हो गेलन आनन्द।
राम के दीहले आशीष, जाहुक राम हो अयोध्या नगरिया राम आउ सीता आनन्द ॥

१५. विष्णु पुराण—अंश ४, अध्याय ४-९१-९४, पद्मपुराण—उत्तर खंड—अ० २४२ वाल्मीकि रामायण, बालकांड, ६७ वां सर्ग श्लोक १२-१७ सर्ग ७-७४, ७५, ७६।

१६. राजा जनक जी के घानी फुलवड़िया, एक महुइया एक आम जी।
ताही तरे सीता सुन्दर दुलले हिंडोलवाँ, रामजी छोड़ले फुफुकार एजी ॥
पहीरह सीता सुन्दर अवधा चुनरिया योगीह अयोध्या के राज हे।

उदास हो जाते हैं।१८ राम जैसे अवतारी पुरुष का जिनका जन्म ही पीड़ितों की रक्षा हेतु हुआ, इस प्रकार दुखी होना असंगत-सा लगता है। रामायण के राम तो प्रसन्न मुख सबसे विदा लेते हैं।१९ वास्तव में राम सम्बन्धी ये वैवाहिक गीत मंगल की भावना से गाए जाते हैं। लोककवि पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने के पूर्व वर को राम और वधू को सीता के समान आदर्श और धैर्यशाली बनने का उपदेश देता है। जीवन में नाना प्रकार की विपत्तियाँ आती रहती हैं, उनका धैर्यपूर्वक सामना करना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है अतः यहाँ राम, सीता, रावण एवं वनगमन प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। राम पुरुष का प्रतीक है, सीता स्त्री का एवं रावण और वनवास जीवन में आनेवाली विपत्तियों के प्रतीक।

इतना ही नहीं लोक-गीतों में सीता के पाताल प्रवेश तक की कथा प्राप्त है। राम, सीता, और लक्ष्मण वन में कुटी बना कर रहते हैं। लक्ष्मण द्वारा बनायी हुई सीमा को पार कर जब सीता योगी को भिक्षा देने जाती हैं तब रावण उन्हें हर कर ले जाता है। शिकार से लौटने पर कुटी में अंधेरा पाकर राम विलाप करते हैं और इसी मनोदशा में वाल्मीकि के राम के समान वन के पशु-पक्षियों से पूछते चलते हैं। यहाँ तक पौराणिक कथा२० से साम्य है, शेष लोककवि की अतिरंजना है। चकवा-चकवी को रात्रिकाल में वियुक्त होने का अभिशाप और धोबी को कुछ न खोने का आशीर्वाद इसी प्रसंग में राम के मुख से दिलाया गया है२१, जो लोकमानस की निजी कल्पना है। इसी प्रकार

---

१७ दूधवा नेहइह बेटी पुतवन फलीह, कोखियन भाउर लागु,
बारह बरीस राम वन के सिधारिहें तोहरा के रावन हरी ले जाय।

१८ नाहि मोरा माता जनक गरीअवले, नाहि दहेज मिलल थोर,
नाहि मोरा माता सीता नाहि सुन्दर समुझी टारब लोर।
सोने के सिन्धोरवा भाई सीता बिआहली दहेज मिलल तीन लोक,
लछमी सीता रानी मोरे घर अइली हमरो लिखल बनवास।

१९ वाल्मीकि रामायण—अयोध्या काड, ३४ वाँ सर्ग।

२० वही, आरण्यकाड, सर्ग ४६-४, ६०

२१ नदिया किनारे चकवा चकइया, एही बाटे रामनमा हर ले जाय,
नाहि देखो सीता हे, नाहि सीता, हमरो जे पेटवा केरा चीता
अइसन आसीस तोरा देवउ रे चकवा, दिन भर जोडिया राति हे बिछोडी
नदिया किनारे धोबिया रे भइया, एही बाटे सीता हरले जाय
देखलों में देखलो हाजीपुर हटिया, सीता मरकिया बइले ठाढ।
अइसन असीस तोरा देबउ रे धोबिया, फटली गुदरिया न भुलाय।

मन्दोदरी का रावण को समझाना,२२ वन में लव-कुश का जन्म, राम का सीता से अयोध्या लौटने का अनुरोध एवं सीता के पाताल-प्रवेश की कथा, पौराणिक कथा के आधार पर है। कथा का मूल एक ही है, केवल कारण में अन्तर पाया जाता है। यहाँ सीता के वनवास का कारण किसी का उपालम्भ नहीं, राम की बहन के कहने पर सीता द्वारा रावण का चित्र उरेहना और उसे देख कर सीता के चरित्र पर राम का सन्देह प्रकट होना वर्णित है। वन में वाल्मीकि मुनि नहीं, वनस्पति माता निकल कर सीता को धैर्य दिलाती हैं। लव-कुश के जन्म का समाचार सीता स्वयं अयोध्या भेजती हैं और नाई को राम को रोचन देने से मना कर देती हैं। राम लव-कुश के जन्म का समाचार सुन सीता को स्वयं लेने आते हैं। यह देख सीता पृथ्वी से फटने की प्रार्थना कर उसमें प्रवेश कर जाती हैं। यहाँ सीता देवी नहीं, साधारण नारी हैं, जिस पर सास, ननद एवं पति का कठोर शासन चलता है। राम की बहन की कल्पना कर लोककवि ने समाज में प्रचलित ननद के भभी के प्रति द्वेष की ओर संकेत किया है। सीता का पाताल प्रवेश नारी की असीम शक्ति एवं त्याग का प्रतीक है। नारी जब अपनी यातनाओं से पीड़ित एवं झूठी लांछनाओं से लज्जित हो जाती है, तो मृत्यु की गोद में शरण लेकर लज्जा निवारण करती है तथा अलौकिक कार्यों से अपने सतीत्व का परिचय देती है। इस प्रकार पौराणिक कथा से भिन्न रामाख्यान लोक-जगत में प्राप्त होता है।

कृष्णकथा—राम की भांति कृष्ण की कथा भी लोक में अत्यधिक प्रचलित है, पुराणों में कृष्ण अवतारी पुरुष हैं।२३ लोकगीतों में कृष्ण का चरित्र लीलाधारी पुरुष के रूप में ग्रहण किया गया है।

कृष्णकथा में लौकिकता अधिक है। कृष्ण का जन्म तो देवकी के गर्भ से होता है, परन्तु यशोदा देवकी के मुख से कंस द्वारा उनके सात पुत्रों की हत्या सुन कर अभिभूत हो जाती हैं, एवं इस आठवें पुत्र को पालने का वचन देती हैं। कृष्ण का जन्म कारागार में

---

२२. सरन गहो सीया राम के पिया हो, सरन गहो सीया राम के।

२३. हरिवंश पुराण, विष्णुपुराण—अंश ५, अध्याय १
श्रीमद्भागवतपुराण—१-८, १७, ३-२३,
मत्स्यपुराण—५-६०,

होना है। जन्मोपरान्त देवकी कृष्ण को यशोदा के यहाँ ले जाती है।[२४] इसी प्रकार सोहरो में कृष्ण का जन्म देवकी के गर्भ से नहीं, यशोदा के गर्भ से होता है, और नन्दजी पडितो को बुलाकर गर्भस्थ शिशु के भविष्य के सम्बन्ध मे पूछते है। पडितों के अनुसार कृष्ण के रूप में त्रिभुवननाथ जन्म लेते हैं। नन्दजी आनदित हो "पमड़िया" (पँवरिया) आदि नचाते है।[२५]

इस प्रकार मगही लोकगीत म वर्णित कृष्णजन्म की कथा पौराणिक कथा से बिल्कुल भिन्न है। पुराणो मे कृष्ण विष्णु के अवतार है। जन्म के समय से ही इन्हें अलौकिक कार्य करते दिखाया गया है। यहाँ कृष्ण देवकी पुत्र हैं एव वसुदेव कारागार से निकल कर नन्द जी के यहाँ पहुँचाते है।[२६] परन्तु लोककवि पौराणिक तथा ऐतिहासिक घटनाओं के विपरीत कल्पना करता है। जन्मोत्सव के गीतो मे कृष्ण-जन्म के समय के सभी लौकिक आधारो का वर्णन हुआ है।

कृष्ण का लीला-रूप लोक-जगत मे अधिक प्रिय रहा। प्रत्येक रसिक पुरुष का "कन्हैया" कहा गया है। झूमर, बिरहा, बरसाती, बारहमासा आदि शृंगारप्रधान गीतों मे कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का वर्णन पाया जाता है। कहीं कृष्ण को गोपियों के साथ रास रचाते हुए, कहीं गोपियों के साथ यमुना के तटपर छेडखानी करते हुए[२७] कहीं कृष्ण को मथुरा में कुब्जा के प्रेम में रत,[२८] तथा कहीं कृष्ण के विरह मे राधा का विलाप और उद्धव द्वारा

---

२४ चुप रहूँ चुप रहूँ देवोकी, त सुनह बचन मोरा हे।
अपना बालक मोरा दीह, त हम पोस पाल देबो हे॥
देवोकी ले भागलन जसोदा के द्वार, महल उठे सोहर हे॥
स० डा० विश्वनाथ प्रसाद—मगही संस्कार गीत, पृ० ४८।

२५ जलम लीहल तिरभुवन नाथ, महल उठ सोहर हे।
बाजन बाजये अपार नागर नट नाचत हे, नाचहि गाय पमडिया महल उठे सोहर हे
स० डा० विश्वनाथ प्रसाद—मगही सस्कार गीत, पृ० ४९

२६ (अ) विष्णु पुराण—अश ५, अध्याय ३।
(ब) ब्रह्मवैवर्त पुराण—अध्याय ७।

२७ अयसन कृस्ना चिखा उठयलन, चढी गेलन कदम गाछ मुरारी।

२८ इ आसा पुरिह, कुब्जी सउतिनियाँ, जिनी कन्हा रखलय लोभाय।
कन्हैया नाहि आयल रे कि॥

संवाद भेजना[२९] आदि वर्णन पाये जाते हैं। कृष्ण की राम-लीला[३०], कृष्ण और कुब्जा का विलास[३१], राधा-उद्धव संवाद[३२] आदि पौराणिक कथा से साम्य रखते हैं।

लोक में कृष्ण के इस रूप के प्रचलन के कई कारण हैं, प्रथमतः कृष्ण की जिन लीलाओं का वर्णन पुराणों में हुआ है, वे लोक के लिए परिचित एवं बोधगम्य हैं। यहाँ उन्हें लीलाधारी अवतारी पुरुष नहीं, बल्कि समाज के एक साधारण रसिक नायक के रूप में ग्रहण किया गया है और प्रत्येक संयोग एवं वियोग के वर्णन के लिए नायक और नायिकाओं को राधा, गोपी एवं कृष्ण के रूप में चित्रित किया गया है। द्वितीयतः तत्कालीन धार्मिक सम्प्रदायों का भी प्रभाव लोकसाहित्य पर पड़ा। मध्ययुग में निम्बार्क, चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य आदि धर्म प्रवर्तकों ने कृष्ण के विभिन्न स्वरूपों को लेकर अपने-अपने मत का प्रचार किया। यद्यपि लोक-साहित्य साम्प्रदायिकता से मुक्त रहता है, पर लोककवि की यह विशेषता है, कि वह अपने वातावरण से नवीन तथ्य ग्रहण कर लोकगीतों में अपनी इच्छानुसार परिवर्त्तन एवं परिवर्द्धन कर लेता है। निम्बार्क सम्प्रदाय में कृष्ण का अपने प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री-शक्ति राधा तथा अन्य आह्लादिनी गोपी स्वरूपा शक्तियों से परिवेष्टित रूप ही उपास्य के रूप में ग्रहण किया गया।[३३] चैतन्य सम्प्रदाय में भी कृष्ण की सगुण भक्ति पर अधिक बल दिया गया है। इसमें माधुर्य भाव को प्रमुख रूप से ग्रहण किया गया है। इसमें मधुर भाव की रति की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"मधुर भाव की रति तीन प्रकार की होती है---साधारण रति, समंजसा रति तथा सम्पूर्ण रति। साधारण रति का दृष्टान्त कुब्जा है, इस भक्ति से, भगवान का मथुराधाम का रूप मिलता है। ऐसे भक्त भगवान से प्रेम और उनकी सेवा अपने आनन्द लाभ के लिए करते हैं। यह कामरूपा भक्ति है। दूसरी समंजसा रति का उदाहरण रुक्मिणी, जामवन्ती आदि महिषी वर्ग हैं। इस भाव को धारण करनेवाले भक्त भगवान से रति अपना कर्त्तव्य अथवा

---

२९. उधोजी तुरतेहि मधुपुरवा जाहो, कन्हैया घर लेइ आवहो रे कि।
सावन उधो सब्द सोहावन रिमिझिमि बरिसन वुन्द हे।
सब के बलेमुआ घर घर फिरे हमरे बलमु परदेस, कन्हैया नाहि आयल रे कि।

३०. ब्रह्मवैवर्तपुराण—अं० २८। विष्णु पुराण अं० ५ अध्याय १३।
श्रीमद्भागवत पुराण—दशम् स्कन्ध, पूर्वार्द्ध २९-३३,

३१. ब्रह्मवैवर्तपुराण अं० ७२, विष्णुपुराण अं० ५, अध्याय २०-१-१३

३२. वही अं० ९२

३३. डा० दीनदयालु गुप्त, अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, भाग १, पृ० ४५,

जीव का धर्म समझ कर करते हैं। ऐसे भक्तो को भगवान का द्वारका रूप मिलता है। तीसरा समर्था रति का दृष्टान्त व्रजगोपियाँ हैं, जिस भाव को धारण कर भक्त भगवान से प्रेम और उनकी सेवा भगवान के आनन्द के लिए करते हैं। इसमें शास्त्र मर्यादा का ध्यान नहीं है। भगवान की सेवा के लिए यदि शास्त्र मर्यादा का भी उल्लघन करना पड़े, तो उस उल्लघन के करने म इस प्रकार के मधुर भाव को रखनेवाला भक्त बिना सकोच के करता है। यही भाव अपने उत्कर्ष पर पहुच कर महाभाव अथवा "राधा" भाव मे परिणत हो जाता है।३४

इस प्रकार ये सिद्धान्त लोक हृदय के अधिक निकट जान पड़े और लोक ने कृष्ण के इसी रूप को हृदयगम किया। तृतीय रति का ही प्रयोग लोकगीतो मे अधिक पाया जाता है, विशेषकर उन स्थलो मे जहाँ गोपियाँ या राधा लोक मर्यादा त्याग कर कृष्ण के सग रास रचाती हैं। राम की भाति कृष्ण के वर्णन मे लोककवि पुराणो से अधिक हट कर नहीं चला है। केवल जहाँ कृष्ण के आध्यात्मिक-पक्ष का वर्णन आया है, वहीं लोककवि पुराणों से अपेक्षाकृत दूर हट गया है। परन्तु यह भी सभव है कि कृष्ण की लोकप्रियता देख पुराण रचयिताओं ने लोक से पार्थक्य दर्शाने के हेतु उन्ह आध्यात्मिक जामा पहनाकर उपस्थित किया। फिर भी दोनों म अधिक साम्य है। कृष्ण के लीलारूप मे वर्णन के अन्तर्गत रुक्मिणी-हरण की कथा आती है। इस कथा का विस्तृत वर्णन पुराणों मे मिलता है।३५ लोककवि ने भी विवाह गीतो में रुक्मिणी हरण की कथा को बड़े ही सुन्दर ढग से सजोया है। शिशुपाल से विवाह होते देख रुक्मिणी ब्राह्मण द्वारा इसकी सूचना कृष्ण के पास भेजती है।३६ इस प्रसग से तो श्रीमद्भागवत पुराण की कथा से साम्य है, जिसमें रुक्मिणी प्रेम की मुद्रा लगा कर श्रीकृष्ण के पास ब्राह्मण के द्वारा संदेश भेजती है।३७ शेष लोककवि की निजी कल्पना है। स्वय कृष्ण नहीं, बल्कि गरुड़ के द्वारा गौरी पूजा करती हुई रुक्मिणी का अपहरण होता है। सभवत लोककवि को आपने नायक द्वारा यह अपहरण अनुचित जान पडा।

---

३४ वही, पृ० ६३

३५ (अ) विष्णुपुराण—अश ५, अध्याय २६। (ब) ब्रह्मवैवर्त्तपुराण—अध्याय १०५-१०८

(स) श्रीमद्भागवत पुराण—दशम् स्कन्ध, अध्याय ५२ ५८

(द) हरिवश पुराण—अध्याय ५९-६०

३६ कने गेल किया भेल विप्र वहामन हे, पाँति लये जाहु न कृस्न पास हे,

३७ श्रीमद्भागवत पुराण—दशम् स्कन्ध, अध्याय ५२

रुक्मिणी के गर्भ से कामदेव के प्रतिरूप प्रद्युम्न का जन्म होता है।३८ मगही जन्मोत्सव के गीतों में रुक्मिणी को एक साधारण नारी की तरह पुत्र की कामना करते हुए दिखाया गया है।३९ रुक्मिणी की गर्भावस्था का वर्णन, कृष्ण का दोहद के लिए पूछना, प्रद्युम्न का जन्म एवं जन्मोत्सव, आनन्द बधाई आदि सभी लौकिक वर्णन हैं।४० इसप्रकार प्रद्युम्न जन्म की पौराणिक कथा को पूर्णतः लौकिक रंग में रंग दिया गया है।

उषा-अनिरुद्ध की कथा पुराणों की एक महत्त्वपूर्ण कथा है। वाणासुर और उषा-अनिरुद्ध का प्रसंग, पुराणों४१ में बडे विशद् रूप में आया है। उषा द्वारा अनिरुद्ध का स्वप्न में दर्शन और उसके प्रति प्रेमोत्पत्ति, चित्रलेखा द्वारा चित्र दिखाना और अनिरुद्ध को सुप्तावस्था में उषा के महल में ले आना आदि प्रसंग लोक में बहुत प्रचलित हुए। झूमर आदि विशुद्ध प्रेमपरक गीतों में इसका उल्लेख हुआ है, परन्तु कथा का जो अंश लोकग्राह्य था उसे ही ग्रहण किया है, शेषांश अर्थात् वाणासुर---कृष्ण युद्ध आदि वर्णन लोकगीतों में नहीं मिलते, इस प्रकार कृष्ण सम्बन्धी विभिन्न कथाएं इन गीतों में प्राप्त हैं।

शिवकथा :—राम और कृष्ण के अतिरिक्त शिव कथा का प्रचलन भी लोक में अत्यधिक है। राम का और कृष्ण का तो कहीं-कहीं अवतार रूप में वर्णन हुआ है, परन्तु शिव को सर्वाधिक लौकिकता प्राप्त है। पार्वती की कठिन तपस्या के पश्चात् शिव जैसा पति प्राप्त करना और पार्वती का सौभाग्य लोक-जीवन के लिए आदर्श है। शिव भोले-भाले आदर्श पति का प्रतीक तथा पार्वती पतिव्रता एवं सौभाग्यवती पत्नी का प्रतीक हैं। विवाह-

---

३८. वही, द्वितीय खण्ड, अध्याय ११८.

३९. रुक्मिन बिपर के बोलौउलन, आँगन बइठवलन हे।
हमरा संपतिया के चाह, संपति हम चाहही हे॥
सं० डा० विश्वनाथ प्रसाद--मगही संस्कार गीत ; पृ० ५४.

४०. वही

४१. (क) शिवपुराण, रुद्र संहिता खण्ड, अध्याय ५१-५२.
(ख) अग्निपुराण---अध्याय १२, श्लोक ४१-५३.
(ग) विष्णुपुराण---अंश ५, अध्याय ३२-३३.
(घ) ब्रह्मवैवर्त्त पुराण---द्वितीय खण्ड अध्याय, ११४-१२०.
(च) श्रीमद्भागवत् पुराण---दशम् स्कन्ध ६२ ६३.
(छ) ब्रह्मपुराण अ० २०५.

सस्कार के मगल गीतों म शिव और पार्वती की गाथा अधिक गाई जाती है। ताकि वर वधू का परस्पर प्रम शिव-पार्वती की भांति हो।

शिव की कथा भी, पुराणों में उल्लिखित समग्न शिव-पुराण मं शिव की कथा है। बारह वर्षों तक पार्वती तपस्या करती है।४२ पार्वती की तपस्या देख नारद को वर ढूँढने के लिए भेजा जाता है। नारद तपस्वी शिव को ढूँढ़ लाते हैं। शिव वृषभ पर आरुढ हो भूत-वेतालों की सेना लेकर विवाह करने आते हैं। विवाह मडप में पार्वती की माता, शिव के रूप को देख कर नारद को भला-बुरा कहती हैं, एव कन्या का विवाह नहीं करने की ठान लेती हैं। माता की यह अवस्था देख पार्वती का शिव को समझाना और शिव का सुभग रूप धारण करना आदि प्रसग पौराणिक कथा४३ के अनुरूप हैं। इसके अतिरिक्त शिव सबन्धी लोकगीतों मे वर्णित अन्य प्रसग लोकमेधा की निजी कल्पना है। शिव का गौरी के नइहर की निन्दा करना और गौरी का शिव की निन्दा,४४ लौकिक दाम्पत्य जीवन का हास-परिहास है। गौरी यहाँ साधारण स्त्री के रूप मे चित्रित हैं। कोई भी स्त्री पति द्वारा अपने नइहर की निन्दा सहन नहीं कर सकती यही कारण है कि गौरी शिव के घर की निन्दा कर उन्हे परास्त करना चाहती हैं। शिव के द्वितीय विवाह का प्रसग तो पुराणों मे आया है, पर वह विवाह पार्वती के देह त्याग के पश्चात् गिरिराज के यहाँ गौरी के रूप मे जन्म लेने पर होता है।४५ परन्तु लोककवि ने गौरी की बहन की कल्पना की है। शिव के विवाह कर लाने पर गौरी जब परीछने जाती हैं, तब बहन को देख आशीष देती हैं४६, जो साधारण नारी की सौतिया डाह से भरी हुई उक्ति है।

इसी प्रकार गणेश जन्म की कथा भी लौकिक है। पुराण मे गणेश पार्वती से उत्पन्न नहीं बल्कि सृजित पुत्र हैं, जिनका सृजन पार्वती ने द्वार रक्षा के हेतु किया था।४७ जन्मोत्सव

४२　अनही तजल गिरीजा, बसतर तेजल, तेजल घर ओ दुआर।
　　सब तेजिए गिरीजा कठिन पर्न ठानलऽ धयेलन सरुर धेयान।
　　एक ही मास बीतल, दुइहो मास बीतल, बीती गइली बारह बरिस।

४३　शिवपुराण—ज्ञान सहिता—अध्याय १२ १८

४४　म० डा० विश्वनाथ प्रसाद—मगही सस्कार गीत, पृ० १३९-१४०

४५　शिवपुराण—ज्ञान सहिता, अध्याय १८

४६　मगिया जुडइह बहिनी, कोखिया पसइह, सिव जी से रहिह जरा दर हे
　　गोसल्या पइसिये बहिनी गोबर काढ़िह, होइह तू दासी हमार हे

४७　शिवपुराण—ज्ञान सहिता अध्याय, ३२,

के गीत में गणेश जन्म का उल्लेख हुआ है। गौरी प्रसव वेदना से व्याकुल हैं, महादेव डगरिन बुलाने जाते हैं, डगरिन (चमारिन) अवसर देख नाज-नखरा दिखाती है। शिव क्रुद्ध हो जाते हैं, गौरी के समझाने के पश्चात् पालकी पर बैठा कर डगरिन को लाते हैं। तदुपरान्त गणेश का जन्म होता है।[४८] इस गीत में केवल पात्रों के नाम मात्र पौराणिक हैं।

"लेलन गनेस औतार, महल उठे सोहर हे," से ही गणेश जन्म की ओर संकेत है। दक्ष-यज्ञ से संबंधित पौराणिक कथा भी लोकगीतों में प्राप्त है। बिना निमंत्रण के गौरी शिव के निषेध करने पर भी पिता के यहाँ यज्ञ में सम्मिलित होने जाती हैं। वहाँ पर उनका अनादर होता है। अपमानित हो गौरी यज्ञ-कुण्ड में कूद कर प्राण त्याग देती हैं। यह समाचार सुनने पर, शिव रुद्र रूप धारण कर दक्ष-यज्ञ विध्वंश करने लगे। गौरी का माता अर्थात् सास प्रार्थना करती हैं कि हे शिव मेरा यज्ञ भ्रष्ट मत करो मैं तुम्हें गौरी के बदले दूसरी गौरी दूंगी एवं तुम्हें फिर से परीछूँगी।[४९] इस गीत की पूर्वार्द्ध कथा तो पौराणिक है,[५०] पर उत्तरार्द्ध लोक मानस की देन है।

इन पौराणिक पुरुषों के अतिरिक्त कुछ और भी व्यक्तियों का उल्लेख मगही लोकगीत एवं गाथाओं में हुआ है, जो पुराणों एवं महायज्ञों में भी प्रमुख स्थान रखते हैं। राजा ढोलन की गाथा में ढोलन के पिता राजा नल का वर्णन आता है। यद्यपि राजा नल का वर्णन लौकिक रूप में हुआ है, परन्तु कुछ अंशों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि महाभारत के नलोपाख्यान में वर्णित नल ही वह पुरुष है। राजा नल पर विपत्ति पड़ना और राज्य नष्ट होना, पत्नी सहित राज्य से बाहर निकल पड़ना, जंगल में मल्लाहों द्वारा मछली देने पर रानी के हाथ से पकाई हुई मछली का धोते समय जीवित हो जाना आदि प्रसंग महाभारत के अनुरूप हैं।[५१] लोकगाथा में नल की विपत्ति का कोई कारण नहीं दिया है, जब कि महाभारत में इसका कारण दमयन्ती का देवताओं ने अपमानित कर नल को वरण करना कहा गया है। मगही गाथा में पौराणिक अंश बहुत संक्षिप्त है। कथा का

---

४८. मगही संस्कार गीत—सं० डा० विश्वनाथ प्रसाद—पृ० ४१-४२.

४९. वही, पृ० १३७-१३८.

५०. शिवपुराण—वाचनीय संहिता, पूर्व भाग अं० १६,
वायुपुराण—अध्याय ३०.

५१. महाभारत—वन पर्व नलोपाख्यान, अध्याय ५२-७९.

आचार्य जवाहरलाल

सुधीरञ्जन दास

पंडित जवाहरलाल नेहरू के जीवनकाल में अथवा उनकी मृत्यु के तुरत बाद ही उनके कर्मशील जीवन की बहुमुखी प्रतिभा के असाधारण विकास का जिन्होंने जितना अंश देखा और जाना उस सम्बन्ध में अनेक गुनी और ज्ञानी अपनी अपनी गहरी अनुभूतियाँ श्रद्धा सहित लिपिबद्ध कर चुके हैं। अत्युन्य पर्वतमाला के पादतल में खड़े दर्शक की आँखों के आगे जितना भाग रहता है (केवल) उतना ही दीखता है। किन्तु तुषाराच्छन्न गिरिशिखर के विराट सौन्दर्य को देखने के लिए दर्शक को पहाड़ के पादतल से काफी दूर हट कर खड़ा होना पड़ता है। उसी प्रकार पंडितजी के समसामयिक हमलोग जिन्होंने उन्हें बहुत पास से देखा और निकट पाया उन्होंने केवल खंडित मानव को ही देखा। उनकी ज्वलन्त गहरी स्वदेश प्रीति तथा सत्यनिष्ठा ने किसी को मुग्ध और उद्‌बुद्ध किया, उनके सार्वभौमिक मानवता के सुस्पष्ट आदर्श ने किसी की दृष्टि आकर्षित की किसी ने देखा उनकी राजनैतिक दूरदृष्टि, कर्मकुशलता को, (तो किसी ने) साहित्य के प्रति उनके अनुराग और साहित्य के उत्कर्ष को। किन्तु उनके समग्र अखण्ड स्वरूप की सम्यक् उपलब्धि कदाचित उस रूप में नहीं हुई है। वर्षों बाद जब निरपेक्ष ऐतिहासिक भारतवर्ष की सभ्यता तथा राष्ट्रीयता के इतिहास का प्रणयन करेंगे तब वे सुदूर से खड़े होकर पंडितजी के विराट अस्तित्व के अखण्ड-ज्योतिर्मय रूप को देशवासियों के सामने प्रस्तुत कर सकेंगे। लेकिन अभी वह समय नहीं आया है। सरकारी काम से अथवा विश्वभारती के काम से पंडितजी के साथ अत्यन्त घनिष्ट सम्पर्क में न आने पर भी व्यक्तिगत परिचय का सुयोग लाभ भाग्यवश घटित हुआ। विश्वभारती के कार्य के प्रसंग में उनके जितने निकट सपर्क में आना हुआ, उसीके दो-एक प्रसंग यहाँ देकर उनकी पुण्यमय स्मृति के प्रति अपनी श्रद्धांजलि निवेदित करूँगा।

बहुत वर्ष पहले—सन् तारीख भूल गया हूँ–पंडितजी को सर्वप्रथम देखा था परम श्रद्धेय स्वर्गीय शरत्‌चन्द्र बसु महाशय के वुडवर्न पार्क स्थित मकान में। उस समय गान्धीजी कुछ दिनों के लिए वहाँ ठहरे हुए थे। जन समागम से घर-आँगन मुखरित था। लोगों की भीड़ ठेल कर झाँककर देखा गान्धीजी को उनके चारों ओर फर्श सोफा पर अनेक गण्यमान्य व्यक्तियों के बीच पंडितजी को भी देखा। वे दरवाजे का सहारा लिए खड़े थे। उनकी पोशाक थी खद्दर की धोती, कुर्त्ता और उस पर छोटी बण्डी—जिसे उस समय जवाहर कोट

कहते थे। बटन खुले ही थे। सिर पर सफेद खद्दर की गान्धी टोपी और पैरों में साधारण चप्पल थी। सौम्य, सुदर्शन आकृति के व्यक्ति। लोगों की भीड़ में भी दृष्टि उनकी ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रही। मौखिक बातचीत का सुयोग उस बार नहीं मिला—केवल दर्शनमात्र हुए।

उसके अनेक वर्ष बाद—१९४८ के दिसम्बर महीने के अन्त में—जीवन की अपराह्न वेला में पंजाब प्रान्त में जा पहुँचा। पंजाब हाईकोर्ट उस समय अस्थायी रूप से शिमला में अवस्थित था वहाँ जाते हुए मार्ग में दो दिन के लिए दिल्ली बन्धुवर स्वर्गीय श्यामाप्रसादजी के घर पर ठहरा। भारत गगन के दो उज्ज्वलतम नक्षत्रों के साथ उसी समय दिल्ली में साक्षात्कार हुआ—सरदार वल्लभ भाई पटेल, जो उस समय गृहमंत्री थे और पंडित जवाहरलाल नेहरू भारत के प्रधान मंत्री। दोनों के साथ ही अलग-अलग बहुत थोड़ी देर बातचीत हुई। पंजाब हाईकोर्ट के लिए बाहर से प्रधान विचारपति लाने की क्यों आवश्यकता हुई, थोड़े शब्दों में सरदार पटेल ने मुझे अच्छी तरह समझा दिया। वे मितभाषी, द्विधारहित निर्भीक पुरुष थे। पंजाब का सामाजिक और राजनैतिक वातावरण तथा अनेक समस्याओं की बातें, पंजाबियों के रहन-सहन और चरित्र के अच्छे-बुरे दोनों पहलुओं को लेकर चर्चा की तथा मुझे पंजाब भेजने का उनके मन में क्या उद्देश्य था यह बात पंडितजी ने अच्छी तरह स्पष्ट रूप से मुझे समझाई। वे मृदुभाषी सुदूरदर्शी आदर्शवादी व्यक्ति थे। पंडितजी के साथ यही मेरा पहला साक्षात् परिचय था। विदा लेकर शिमले की ओर चला और पंजाब हाईकोर्ट में प्रधान-विचारपति के रूप में काम आरम्भ किया। ठीक एक वर्ष पंजाब में बिताकर १९५० के जनवरी महीने में दिल्ली के फेडरेल कोर्ट में आ पहुँचा, (जो) कुछ ही दिन बाद नए संविधान के निर्देशानुसार भारत के सुप्रीम कोर्ट में रूपायित हो २६ जनवरी को सुप्रतिष्ठित हुआ। यहाँ हमलोगों का कार्यक्षेत्र बिल्कुल अलग होने से पंडितजी के साथ अच्छी तरह से परिचय होने का सुयोग-सुविधा नहीं मिली। बीच बीच में जहाँ-तहाँ नाना अनुष्ठानों में मुलाकात होती रहती थी—"कैसे हैं?" "अच्छा हूँ।"—बस इतने तक ही कहा जा सकता है सो भी बहुत ही विरल अवसरों पर. मंत्रियों के साथ जजों की घनिष्ठता संगत नहीं, इसी कारण शायद मैं पंडितजी से आँख बचा कर जाया करता था।

१९५१ में जब विश्वभारती को केन्दीय विश्वविद्यालय में परिणत करने का सिद्धान्त पक्के रूप से गृहीत हो गया तब कानूनी खसरे को लेकर श्रद्धेय रथीन्द्रनाथ ठाकुर और स्नेहभाजन अनिलचन्द के साथ चर्चा करते हुए ज्ञात हुआ कि विश्वभारती की कर्म-समिति (एक्जीक्युटिव कांउसिल) में पुराने छात्र और कर्मी-संघ से केवल एक ही सदस्य के लिए

जाने की व्यवस्था हुई है एवं आरम्भ में केन्द्रीय शिक्षा विभाग यह भी देने के लिए राजी नहीं था। रथीन्द्रनाथ के परामर्श और निर्देशानुसार पंडितजी के साथ मिलने का समय निश्चित करके उनके दफ्तर में हाजिर हुआ। केन्द्रीय सरकार के शिक्षा मन्त्री उस समय अध्यापक हुमायूँ कबीर थे। अध्यापक कबीर आरम्भ में ही बोले कि पृथिवी के किसी भी देश के किसी विश्वविद्यालय की कार्य निर्वाहक समिति अर्थात् सिण्डिकेट में पुराने छात्र और कर्मियों को सदस्य भेजने का अधिकार नहीं दिया जाता है। प्राक्तन लोग विश्वविद्यालय की परिषद् अर्थात् सिनेट में एक या दो सदस्य भेजते हैं। तो भी इस प्रसंग में उन्होंने विश्व-भारती के प्राक्तन छात्र और कर्मी-संघ को एक प्रतिनिधि भेजने का अवसर दिया है।

मैंने कहा, विश्वभारती की दूसरे विश्वविद्यालयों से तुलना करना भूल करना है। विश्व-भारती एक विशाल एकान्नवर्ती परिवार के समान है। यहाँ हम वयज्येष्ठों को 'दादा' कह कर सम्बोधित करते हैं। यह केवल मुँह से बुलाने भर के लिए ही नहीं है। हमलोगों में एक आत्मिक सम्बन्ध है जो अन्य किसी विश्वविद्यालय में नहीं है। ऐसी स्थिति में विश्वभारती के लिए अन्य विश्वविद्यालयों के समान व्यवस्था करने से विश्वभारती की चिरागत प्रथा और नीति की अमर्यादा करनी होगी। हमलोग बचपन से ही गुरुदेव से नाना प्रकार और नाना प्रसंगों में बराबर सुनते आ रहे हैं कि उन्होंने बिना किसी द्विधा के विश्वभारती को प्राक्तन छात्र और कर्मियों के हाथों में सौंप दिया है और उन्हें भरोसा है कि विश्वभारती के प्राक्तन लोग इस उत्तरदायित्व के पालन में सर्वदा प्रयत्नशील और उत्साही रहेंगे। दायित्व के साथ ही प्राक्तनों का अधिकार भी है। इस समय उन्हें उस अधिकार से वंचित करना अन्याय करना होगा।

पंडितजी ने क्षणभर चुप रह कर कुछ सोचा फिर थोड़ा-सा हँस कर शिक्षा-सचिव से पूछा कि कर्म-समिति की सदस्य संख्या कितनी निश्चित की है, शिक्षा-सचिव बोले—चौदह। पंडितजी ने कहा चौदह की जगह पन्द्रह होने पर यदि कोई अलंघनीय प्रतिबन्धक नहीं है तब सदस्य संख्या पन्द्रह ही कर दो।

यह निर्देश देकर पंडितजी ने जब कागज पत्र समेट लिए तब उन्हें नमस्कार करके हमलोग प्रसन्नचित्त लौटे।

मैंने देखा कि विश्वभारती को दूसरे विश्वविद्यालयों से पृथक् रूप में देखने में पंडितजी ने कुछ भी द्विधा नहीं व्यक्त की। विश्वभारती पर उनका प्रगाढ़ विश्वास था मानो यह जैसे उसका ही संकेत प्रतीत हुआ।

विधान पारित हो गया एवं उसीसे विश्वभारती की कर्म-समिति में पन्द्रह सदस्य हैं,

और उसमें विश्वभारती के प्राक्तन छात्र और कर्मियों के दो प्रतिनिधि स्थान पाते आ रहे हैं।

१९५८ के दिसम्बर महीने के अन्त में विश्वभारती में नए उपाचार्य की निपुक्ति की आवश्यकता उपस्थित हुई। अनेक व्यक्तियों के नाम लिए जा रहे थे। मैं उस समय भी भारत के प्रधान विचारपति के पद पर काम कर रहा था। एक लम्बे पत्र द्वारा अपने विचार पंडितजी को बता कर मैं निश्चिन्त हो गया था। एक दिन सवेरे अनिल ने आकर बतलाया कि पंडितजी एक बार मुझसे मिलना चाहते हैं, असुविधा न हो तो उसी दिन संध्या को जाने से उन्हें भी सुविधा होगी। अनिल ने कहा—जाना ही होगा। क्यों बुलाया है और मैं जाकर ही क्या कहूँगा, यह कुछ भी सोच नहीं सका। जो हो, संध्या होते न होते ही अनिल जाने के लिए तैयार होकर पहुँचे। उनके साथ पंडितजी के घर गया। विश्वभारती सम्बन्धी इधर उधर की बातें हो रही हैं, कौन उपाचार्य होंगे इस विषय में इस नाम उस नाम की चर्चा हो रही हैं। इसी बीच पंडितजी आचानक बोले—आप ही इस कार्य का भार क्यों नहीं लेते ?

मैं इस प्रश्न के लिए बिल्कुल भी तैयार नहीं था। आश्चर्यान्वित होकर बोला—किसी शिक्षा संस्था का कार्य चलाने की योग्यता मुझमें नहीं है, क्योंकि शिक्षा के सम्बन्ध में मुझे कोई भी अभिज्ञता नहीं है।

पंडितजी ने हँसकर कहा—शिक्षा का भार लेनेवाले लोग तो वहाँ अनेक हैं। किसी समय मैं शान्तिनिकेनन का विद्यार्थी था और गुरुदेव का निकट सान्निध्य प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था कदाचित वही सबसे बड़ी बात थी और उपाचार्य होने के लिए वही मेरा सबसे बड़ा अधिकार था।

अनिल के मन में भी खटक थी कि भारत के प्रधान न्यायाधीश के लिए विश्वभारती के उपाचार्यपद को ग्रहण करना संगत होगा अथवा नहीं। ज्यों ही अनिल ने इस प्रकार का संकेत किया त्यों ही पंडितजी कुछ उत्तेजित से स्वर में बोले—तुम क्या कह रहे हो ? विश्वभारती के उपाचार्य के पद की मर्यादा की कोई तुलना नहीं है। हमारे राष्ट्रपति अवसर ग्रहण के बाद यदि यह पद मर्यादा पा सकें तो वे अपने को सम्मानित समझेंगे।

हम दोनों ही चुप। अन्त में मैंने कहा—सोच कर देखूगा, आप भी कृपया किसी दूसरे के विषय में सोच रखें।

उन्होंने बिना किसी द्विधा के कहा—इसमें सोचने की कोई बात नहीं है।

मैं बोला—सुप्रीम कोर्ट के लिए तो पहले व्यवस्था करनी होगी।

पंडितजी बोले—नहीं, आपका यहां का कार्यकाल समाप्त होने से पहले यहाँ से भी आपको छोड़ना संभव नहीं होगा। अतएव इस बीच के समय के लिए विश्वभारती में एक अस्थायी व्यवस्था करनी होगी।

तर्क के लिए कोई अवसर नहीं रहा, हमलोग उठ खड़े हुए। मेरी कार्यावधि तब भी प्राय: १० महीने बाकी थीं। इस बीच में कितना क्या अदल-बदल हो सकता है—यह सोचकर मन को कुछ हल्का कर लिया। किन्तु पंडितजी ने विश्वभारती को कितने उच्चासन पर अधिष्ठित कर रखा था यह देख हम दोनों विस्मय से अभिभूतप्राय होकर घर लौटे।

सितम्बर १९५९ में मेरा दिल्ली का काम समाप्त हुआ। अन्त में नवम्बर महीने में आश्रम लौट आया—जननी की स्नेहमयी गोद में। मेरे उपाचार्य होने के बाद पंडितजी बीच में एक वर्ष के अतिरिक्त प्रतिवर्ष पौष-उत्सव के दिन आश्रम में उपस्थित हुए और दूसरे दिन दीक्षान्त-समारोह में भाषण देकर छात्र छात्राओं तथा कर्मी सभी को उत्साहित और उद्बुद्ध किया। उनके सभापतित्व में संसद के अधिवेशन सुश्रृंखल और सुचारु रूप से अनुष्ठित हुए। सातवीं पौष की रात्रि के विश्राम के बाद प्रात: पंडितजी जब स्नान करके दीक्षान्त-समारोह में जाने के लिए तयार होकर नीचे उतरते, तब लगता था जैसे वे देह-मन में नया बल संचय करके हम सभी में अपने असाधारण व्यक्तित्व का स्पर्श लगा देते। मैं प्रतिवर्ष जब उन्हें उत्तरीय पहनाता उस समय उनके मुख-नेत्र जैसे प्रसन्नता से भर उठते थे। गुरुदेव पर उनकी जो असीम स्नेह भक्ति और श्रद्धा थी तथा विश्वभारती के आदर्शों पर जो उनकी सुगभीर भक्ति तथा विश्वास था उसे उन्होंने प्रत्येक वर्ष दिए अपने दीक्षान्त भाषणों में नाना प्रकार से व्यक्त किया है। उदाहरणस्वरूप १९६१ के दीक्षान्त समारोह में उन्होंने जो भाषण दिया था उसका उल्लेख किया जा सकता है। उन्होंने कहा था—

Again we meet here in this Amrakunja and go through this beautiful ceremony Again we have heard the recitation of the old invocations which our forebears for hundreds and perhaps thousands of years have recited previously, and we have repeated and affirmed ideals which Gurudeva gave to this institution For me, to come here, year after year, is a privilege which I greatly value It brings me into an atmosphere which inspires me, for, I find the living presence almost of Gurudeva here I feel that I am on hallowed grounds where we sat and taught and worked In my life I have received many honours But one of those which I value

very greatly and yet wonder whether I was suited for it, is the honour to be your Acharya and to be made to sit where Gurudeva sat. Who am I, who is anybody, to sit on that seat? At the most, we are worthy to sit at his feet and to learn from him. However, this great privilege has been given to me and I have often wondered what I can do to justify this not only here in Santiniketan and Visva-Bharati, but in my life. Because the only justification, the only way to honour a great man is to try to understand him, his message and try to follow it. This life of ours is too full of trivialities, too full of superficial things and it is only these great men who give depth to it. Can we understand that deeper meaning of a great man's message? Can we live upto it to some extent? When I come here, my courage revives because I seem to hear Gurudeva's voice, and his message reverberates in my mind; and I feel inspired by it and go back from here, I hope, a little better person than I came here.

(अर्थात् इस सुन्दर अनुष्ठान को मनाते हुए हम पुनः इस आम्रकुंज में सम्मिलित हुए हैं। हम पुनः उन प्राचीन देवस्तुतियों को सुन रहे हैं जिन्हें हमारे पूर्वजों ने सैकड़ों, कदाचित् सहस्रों वर्ष पूर्व उच्चारित किया था। गुरुदेव ने इस संस्था को जो आदर्श दिए, हमने उन्हें दुहराया और उनसे प्रतिज्ञाबद्ध हुए। मेरे प्रतिवर्ष यहाँ आने के विशेषाधिकार का मेरे लिए अत्यधिक मूल्य है। यहाँ मैं अपने को एक ऐसे वातावरण में पाता हूँ जिससे मुझे प्रेरणा मिलती है; क्योंकि यहाँ मुझे गुरुदेव की जीवन्त उपस्थिति की अनुभूति प्राप्त होती है। मुझे लगता है कि मैं उस पवित्र भूमि पर हूँ जहाँ गुरुदेव बैठे, उन्होंने शिक्षा दी और कार्य किया। मैंने अपने जीवन में बहुत सम्मान प्राप्त किए हैं, लेकिन उनमें से एक को जिसे मैं अत्यधिक मूल्यवान् समझता हूँ साथ ही मुझे आश्चर्य भी होता हैं कि क्या मैं उसके योग्य हूँ, वह सम्मान यहाँ के आचार्य पद का है, जिस पद पर गुरुदेव आसीन थे। मैं कौन हूँ अथवा अन्य कौन है, जो उस पद पर आसीन हो सकता है? अधिक से अधिक, उनके चरणों में बैठ कर सीखने की योग्यता भर हममें है। कुछ भी हो मुझे जो यह बहुत बड़ा अधिकार दिया गया है; (उसके लिए) मैं प्रायः आश्चर्य भी करता हूँ कि यहाँ शान्तिनिकेतन विश्वभारती में ही नहीं किन्तु

अपने जीवन में भी क्या मैं इसका औचित्य सिद्ध कर सकूँगा ? किसी महापुरुष को सम्मानित करने का एक मात्र न्याय-औचित्य, एकमात्र पथ है, उन्हें तथा उनके सन्देश को समझने एवं उस पथ पर चलने का प्रयत्न करना। हमारा जीवन नाना क्षुद्रताओं तथा आडम्बरों से परिपूर्ण है, केवल ये महापुरुष ही उसमें गहराई ला सकते हैं। किसी महापुरुष के सन्देश के गहरे अर्थ को क्या हम समझ सकते हैं ? क्या कुछ अंशों में उसका पालन कर सकते हैं ? जब मैं यहाँ आता हूँ, तब मेरा साहस पुनः जाग उठता है क्योंकि मुझे लगता है कि मैं गुरुदेव की वाणी सुन रहा हूँ, उनके सन्देश मेरे मस्तिष्क में आलोडित होने लगते हैं, इससे मुझे प्रेरणा मिलती है और यहाँ से लौटने पर मैं आशा करता हूँ कि जैसा मैं आया था उससे थोड़ा अच्छा व्यक्ति बन कर लौटता हूँ।)

पंडितजी का मन शिशु के समान आनन्दावेग से परिपूर्ण था। पहिले देखता, बात नहीं चीत नहीं वे मेला-मैदान की ओर चल पड़े हैं। छातिमतला के उत्तर की ओर जहाँ हिंडोले निरन्तर घूम रहे हैं, ध्यान से देखने पर दिखता पंडितजी कुछ लड़के-लड़कियों के साथ हिंडोले में बैठे बड़े मौज में चक्कर खा रहे हैं। उनके झूले में जो बच्चे जुट सके ये उन सबके हाथों में बांस की छड़ी और सिर पर बेंत की टोपी थी। वे सब आह्लाद में बेसुध थे। पंडितजी के साथ हिंडोले में झूलने की उनकी बातें जैसे समाप्त ही नहीं होती थी। इधर पुलिसवाले भय और चिन्ता के मारे शीतकाल के दिन भी पसीने से तर हुए इधर-उधर भाग-दौड़ कर रहे थे। उनके निर्बंधातिशय्य के फलस्वरूप बाद में बहुत कह सुनकर पंडितजी को निर्दिष्ट सीमा के भीतर रखने की चेष्टा की जाती थी। किन्तु सभी आशंकित रहते थे न जाने कब वे बाधा-निषेध न मानकर निकल पड़ेंगे। उनके आग्रह से प्रतिवर्ष मृणालिनी आनन्द पाठशाला के बच्चों को लेकर आनन्द मेला की व्यवस्था की जाती। बच्चों को लेकर खेल और मजलिस जमाने में पंडितजी सुपटु थे। उनके हाथों में उछाल-उछाल कर संतरा बिस्कुट देने, गेंद लेकर खेलने के कितने हो सुन्दर सुन्दर चित्र हमारे रवीन्द्र सदन में सुरक्षित हैं।

शांतिनिकेतन के छात्र छात्राएँ और कर्मी हमलोग अपने से वयज्येष्ठों को 'दादा' कहकर सम्बोधित करते हैं यह पहले ही कह चुका हूँ। यह सम्बोधन केवल मुँह से कहने भर के लिए ही नहीं है—इस सम्बोधन में ध्वनित हो उठती है अंतर की प्रगाढ़ श्रद्धा। यह रीति पंडितजी को बहुत अच्छी लगती थी। आश्रम के छोटे-बड़े छात्र छात्राएँ और सहकर्मी लोग मुझे 'मुन्नी दा' सम्बोधित करके अपने स्नेह का परिचय देते हैं, इस सम्बोधन ने पंडितजी को अत्यन्त आनन्दित किया। इस सम्बोधन में उन्हें हमारे आश्रम के गंभीर आत्मिक योगसूत्र का परिचय मिला था। उस बार का समावर्तन कार्य समाप्त करके दिल्ली लौटकर उन्होंने

यथारीति मुझे चिट्ठी लिखी ; किन्तु देखा, इस बार चिट्ठी में सम्बोधन का एक नया शब्द ; देखा, उन्होंने सम्बोधित किया है—My dear Sudhir-da (अर्थात् मेरे प्रिय सुधीर-दा) चिट्ठि पढ़कर बड़े आनन्द का अनुभव हुआ। उत्तर में मैंने उन्हें जो पत्र लिखा उसमें एक स्थान पर बताया कि मेरे नाम की वर्तनी में 'र' अधिक है, वह निकल जाएगा। कुछ दिनों में ही उनका उत्तर आया, उन्होंने लिखा था—

Personal
No. 35—PMH/60

Prime Minister's House
New Delhi
January 4, 1960

My dear Sudhi-da

Thank you for your letter of the Ist January with which you have sent copies of the letters addressed to K. C. Chaudhuri and Dhiren Mitra.

I have noted your correction about my spelling of your name.

Yours sincerely
JAWAHARLAL NEHRU

(अर्थात्—

व्यक्तिगत
न० ३५—पीएमएच। ६०

प्रधान मंत्री आवास
नई दिल्ली
४ जनवरी, १९६०

मेरे प्रिय सुधीदा

पहली जनवरी के आपके पत्र के लिए धन्यवाद जिसमें आपने के० सी० चौधरी और धीरेन मित्र को लिखे गए पत्रों की प्रतिलिपियाँ भेजी हैं।

आपके नाम की मेरे द्वारा लिखी वर्तनी के विषय में आपके संशोधन से अवगत हुआ।

आपका विश्वासी
जवाहरलाल नेहरू)

यह सम्बोधन मेरे मन में अमूल्य सम्पद् के रूप में बसा हुआ है।

एकबार दीक्षान्त समारोह के अवसर पर अनेक अतिथि अभ्यागत समागम से उत्तरायण का उदयन गृह आनन्द मुखरित हो रहा था। विश्वभारती की माननीया प्रधाना पश्चिम वंग

की राज्यपाल श्रीमती पद्मजा नायडू के सहज सरल सुललित कण्ठस्वर से अभ्यागत मुग्ध और मुक्त हास्य कौतुक से उदयन का समागृह आनन्द से पूर्ण था। अचानक उन्होंने मुझे कोई एक कागज पढ़ने के लिए दिया। जैसे ही मैंने अपने चश्मे का खोल खोला श्रीमती नायडू उधर देखकर बोल पड़ीं—यह क्या, लगता है आप चश्मे के खोल में कागज पत्र रखते हैं? मैंने कहा—नहीं, जरूरी कुछ नहीं—केवल पुराने—व्यवहृत कुछ डाक टिकट रह गए हैं। उनके संग बातों में पार पाना सम्भव नहीं है। बोलीं—देखती हूँ डाक टिकट जमा करने का भी शौक है। मैंने हँसकर कहा—जिस दिन से शान्तिनिकेतन आया हूँ उसी दिन से छोटे छोटे भाई बहनों के लिए डाक टिकट संग्रह करके रखता हूँ। वे लोग पाकर खुश होते हैं।

पंडितजी मेरे पास में ही खड़े थे। वे भी उत्साह के साथ मेरे संगृहीत डाक टिकटों की सामान्य पूंजी को देख कर बोले—मेरे पास देश-विदेश के लोगों की चिट्ठियाँ आती हैं। मैं तो आपके पास अनायास ही वे सब डाक टिकट भिजवा सकता हूँ।

मैं खुश होकर बोला—यह तो बड़ा अच्छा होगा। लड़के लड़कियाँ बड़े आनन्दित होंगे।

बात वहीं समाप्त ही गई—जैसे निरर्थक बात की बात समाप्त हो जाया करती है। २५ दिसम्बर को दीक्षान्त समारोह समाप्त कर पानागढ़ में पंडितजी को हवाई जहाज में चढ़ाकर दिल्ली के लिए विदाकर आश्रम लौट आया। उस समय देह-मन क्लान्ति से आच्छन्न था।

दिसम्बर की २८ या २९ को एक बहुत बड़े लिफाफे में मेरे नाम एक पत्र आया। लिफाफे के पीछे की ओर लाख की बड़ी लाल मुहर लगी हुई थी। लिफाफे के ऊपर की तरफ बाँए ओर नीचे 'प्रधान मन्त्री का दफ्तर' शब्द लिखे हुए थे। खोलकर देखा डाक टिकटों का एक ढेर। अनेक वर्षों से जो स्मारक डाक टिकट इस देश में निकले हैं उन्हीं के एक एक नमूनों का एक एक पैकेट था। केवल बातों के सिलसिले में उन्होंने जो प्रतिश्रुति दी थी उसे स्मरण रख कर विलम्ब किए बिना पंडितजी ने जो ये सब डाक टिकट छोटे-छोटे बच्चों के लिए भेजे यह देखकर मन में परम आनन्द का अनुभव हुआ। कभी कभी मन में आता था कि शायद एक बार इन्हें भेजकर उन्होंने अपना कर्तव्य समाधान किया। नहीं, उन्होंने ऐसा नहीं किया। प्रतिमास एक छोटे लिफाफे में भर कर विभिन्न देश विदेश के पुराने व्यवहृत डाक टिकट मेरे पास वे भेजते रहे, जितने दिन जीवित रहे।

हर महीने छोटे लड़के लड़कियों के बीच जब उन सब डाक टिकटों को बाँटना तब उनकी आँखों से ऐसा आनन्द फूट पड़ता, उनके सुललित कण्ठ से ऐसा उल्लास—कल्लोल ध्वनित होता। डाक टिकट समाप्त हो जाने पर जिस बेचारे को नहीं मिलता वह मेरे मुँह की ओर देखकर कहता—मुझे तो मिला नहीं। मैं उत्तर देता—अब जब दूसरी बार डाक टिकट

आएँगे तब तुम्हें सबसे पहले मिलेगा'। यह आश्वासन मात्र पाते ही वह खुश हो कर चला जाता।

आज उन डाक टिकटों का आना सदा के लिए बन्द हो गया है और छोटे-छोटे बच्चों को 'फिर आएँगे' का आश्वासन देने का भरोसा मात्र भी न रहा।

भगवत्कृपा से जीवन की सान्ध्यवेला में एक विराट व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्ति के निकट-संस्पर्श में आने का सुयोग मिला था। वे चले गए हैं; किन्तु हम सब आश्रमवासियों के लिए अपने निर्मल चरित्र का अनुपम माधुर्य और सौरभ छोड़ गए हैं। गान का सुर थम जाने पर भी संगीत की मूर्छना जैसे हृदयतंत्रियों को स्पन्दित और अनुरणित किये रखती है वैसे ही उनकी स्मृति हमलोगों के जीवन में जीवन्त बनी रहेगी यह बात मन-प्राण से विश्वास करता हूँ। पंडितजी का सान्निध्यलाभ ही हमलोगों के लिए अक्षय-सम्पद हो गई है—

क्षणमिह सज्जनसङ्गतिरेका
भवति भवार्णवे तरणेनौका।

[मूल बंगला से अनु०—कणिका तोमर

आधुनिक भारतीय चित्रकला

विनोद विहारी मुकर्जी

(३)

(पूर्वांक से आगे)

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् भारतीय कला के एक नए अध्याय का आरंभ हुआ। जिस प्रकार समाजवाद तथा फ्रायड के मनो-विश्लेषण ने साहित्य को प्रभावित किया उसी प्रकार कला में आधुनिकवाद आया जो ब्रिटिश होने की अपेक्षा फ्रेंच अधिक था। साहित्य तथा कला के क्षेत्र में अन्य परिवर्तन भी आए। उन्नीसवीं शती के ब्रिटिश प्रभाव और प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के ब्रिटिश प्रभाव में जमीन-आसमान का अंतर था। युद्ध के बाद साहित्य में विचार और आदर्शवाद पर कम यथार्थवाद और अनुभव पर ज्यादा बल दिया गया। नाटक के क्षेत्र में ह्रास दिखाई पड़ा किन्तु उपन्यास और कहानियाँ अधिक नाटकीय होने लगे। सर्वत्र प्रयोग और पुनर्परीक्षा का नया स्वर सुनाई पड़ता था। भावुकतावाद, राष्ट्रीयतावाद और अध्यात्मवाद के स्थान पर कला और साहित्य में बड़े पैमाने पर जीवन बोध को स्वीकार करने तथा उसके प्रयोग का नया प्रयत्न दिखाई दिया। जिस प्रकार यूरोप का प्रभाव हमारी कला और साहित्य पर पड़ा, देश में घटित कुछ घटनाओं ने हमारे मन पर गहरा प्रभाव डाला। इस प्रसंग में दो अत्यंत महत्वपूर्ण घटनाएं थीं—महात्मा गांधी का असहयोग आन्दोलन और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का सार्वभौम शिक्षा का आदर्श—समकालीन कला को नया मोड़ देने में ये दोनों ही प्रभावशाली शक्तियाँ थीं।

सन् १९२० और १९३५ के बीच के समय में कला के क्षेत्र में कुछ नवीन लक्षण दिखाई पड़े जिनका मूल रवीन्द्रनाथ द्वारा स्थापित शिक्षाकेंद्र में ढूँढा जा सकता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शिक्षा के आदर्श पर विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है, अतः उस पर यहाँ चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। रवीन्द्रनाथ ने कला को शिक्षा का एक माध्यम माना था और कुछ क्षेत्रों में तो कला को ही एकमात्र उचित माध्यम बताया था। यहाँ हम उनके केवल अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र की चर्चा करेंगे जिसमें कला विभाग भी सम्मिलित था। विभिन्न क्षेत्रों में मनुष्य में सृजनात्मक शक्ति को जागृत करना उनका मुख्य ध्येय था। प्रत्यक्ष अनुभव तथा इच्छा, निरीक्षण और प्रयोग सृजनात्मकता तक पहुचाते हैं, और रवीन्द्रनाथ ऐसा वातावरण तथा परिवेश तैयार करना चाहते थे जो सृजनात्मकता को प्रोत्साहित करे। अपने स्वप्न को वास्तविकता में परिणत करने के लिए उन्होंने नंदलाल तथा असितकुमार को आमन्त्रित किया।

नंदलाल का राष्ट्रीय दृष्टिकोण और रवीन्द्रनाथ का अंतर्राष्ट्रीय आदर्शवाद दोनों मिल गए और कला के एक नवीन स्कूल का उदय हुआ। कला के अध्यापन में नंदलाल तथा अन्य कला अध्यापकों ने अवनीन्द्रनाथ की उदार पद्धतियों का अनुसरण किया। धीरे-धीरे नंदलाल ने अध्यापन की अपनी पद्धति का निर्माण किया जो कला जगत् में सन् १९३० से प्रचलित हुई। विस्तार से उनकी शिक्षा पद्धति पर यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अपने लेखों में उन्होंने उस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

उस समय जो कलाकार कला-शिक्षा के लिए नंदलाल के संपर्क में आए वे आधुनिक शिक्षा पाकर आए थे तथा आधुनिक वातावरण में ही पलकर बड़े हुए थे। प्राचीन और अर्वाचीन के बीच जो संकट हमें अवनीन्द्रनाथ तथा उनके अनुयायियों में दिखता है, उससे ये नवयुवक कलाकार अपरिचित थे। कलकत्ता में अवनीन्द्रनाथ का कलाकेंद्र शहरी वातावरण में गठित हुआ था, अतः कलाकारों को अपनी कला में सजीव मानव विचारों और अनुभूतियों को चित्रित करने के लिए विशेष सतर्क रहना पड़ता था। शान्तिनिकेतन के नवीन ग्रामीण वातावरण में पुराने और नए कलाकारों ने प्रकृति के हरित स्पर्श का अनुभव किया। थोड़े ही समय में नंदलाल, असितकुमार तथा उनके अनुयायी कलाकार अपनी नूतन प्रकृति चेतना के लिए प्रसिद्ध हो गए।

प्रकृति के संपर्क में आने के फलस्वरूप कलाकार नए विषयों के प्रति जाग्रत हुए। नाना कलाओं और विविध संस्कृतियों में कलाकारों की साग्रह अभिरुचि ने भी उनकी कलाकृतियों को प्रभावित किया, नंदलाल का व्यक्तित्व विकास की एक नवीन दिशा की ओर मुड़ा। शान्तिनिकेतन के कलाकार जिस समय प्रकृति के पर्यवेक्षण तथा चित्रण की ओर उन्मुख हो रहे थे, उसी समय डा० स्टेला क्रामरिश शान्तिनिकेतन आईं। कलाकारों को कला के इतिहास, विशेषकर के आधुनिक फ्रांसीसी कला से संबंधित उनके विश्लेषणात्मक व्याख्यान सुनने का अवसर मिला। जब क्रामरिश ये व्याख्यान शान्तिनिकेतन में दे रही थीं, भारत के बहुत ही कम कलाकारों तथा कला प्रेमियों को यूरोपीय कला की नवीन प्रवृत्तियों का परिचय था। चीन और भारत के बीच सांस्कृतिक संपर्क प्राचीन इतिहास का विषय है। किन्तु आधुनिक चीन को जानने और समझने की नवीन उत्सुकता इस समय दिख रही थी। रवीन्द्रनाथ की जीवनी से परिचित विद्वान जानते हैं कि चीन और जापान की संस्कृति की उस समय वे किए प्रकार चर्चा कर रहे थे।

कला के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ की योजनाएँ अन्य क्षेत्रों की योजनाओं की अपेक्षा अधिक सफल रहीं। शान्तिनिकेतन के कलाभवन ने इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया। इसी समय श्री मनीन्द्रभूषण गुप्त ने चीनी सौंदर्य शास्त्र पर फ्रेंच में लिखी एक पुस्तक का बंगला में अनुवाद

किया। रूप और विधि की दृष्टि से सन् १९२० तथा १९३० के बीच चित्रित नदलाल के चित्रों में पूर्वीशैली का प्रभाव स्पष्ट दिखता है।

पूर्व और पश्चिम, प्राचीन और नवीन के मिलन के कारण वास्तव में ऐसा परिवर्तन हो रहा था, जिसकी समता आधुनिक कला के इतिहास में अन्य किसी आंदोलन से नहीं की जा सकती। चित्रकला, भित्तिचित्र, मूर्तिकला तथा फ्रेंचकला की शैली की विशेषताओं को ग्रहण करने के प्रयास सन् १९३५ से आरम्भ होगए थे। जिन कलाकारों में इन प्रभावों की निश्चित छाप मिलती है, वे हैं—रामेन्द्र नाथ चक्रवर्ती, हीराचद दुगड़, धीरेनकृष्ण देव वर्म्मा, सत्येंद्रनाथ वन्द्योपाध्याय, मनींद्रभूषण गुप्त, सुधीर खास्तगीर और रामकिंकर बैज आदि।

कला की इस नवीन धारा के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर का व्यक्तित्व भी था, क्योंकि यह धारा कवि के महान् शिक्षा केंद्र के भीतर से विकसित हुई किन्तु शिल्प के पुनरुत्थान के क्षेत्र में कवि का प्रभाव अधिक प्रत्यक्ष था। स्वदेशी मेला के द्वारा भारतीय हस्तशिल्प की वस्तुओं को लोकप्रिय बनाने के प्रयत्न हुए थे। इस दिशा में ई० बी० हैवेल ने भी उल्लेखनीय प्रयत्न किए। विचित्रा काल में गगनेन्द्रनाथ तथा अवनीन्द्रनाथ ने इस क्षेत्र में जो प्रयास किए उनकी ओर पीछे सकेत किया जा चुका है। किन्तु सत्य तो यह है कि प्रगतिशील समाज की रुचि हस्तशिल्प की वस्तुओं में सतही उत्सुकता तथा लघुजीवी शौक तक ही सीमित रही।

भारतीय शिल्प का इतिहास बड़ा सघर्षपूर्ण रहा है। अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त समाज देशी शिल्प की वस्तुओं को बिल्कुल ही नहीं या बहुत ही कम पसद करते थे। तो भी ये जीवित रहीं और आज भी हमें भारत के हर कोने में हस्तशिल्प उत्पादनों की परपरा किसी न किसी रूप में जीवित मिलती है। मिट्टी के बर्तन, सूती सामान और खिलौने आदि अभी भी जीवन सघर्ष कर रहे हैं, यथार्थ समाज के प्रगतिशील वर्ग द्वारा वे उपेक्षित हैं। साधारण जनता द्वारा हस्तशिल्प की वस्तुओं को सदा से प्रश्रय मिलता रहा है, वह परपरागत आचार विचार में विश्वास करती है और रूढ़िवादी वर्ग से सबध रखती है। शांतीपुर तथा चद्रनगरके बुनकरों के शिल्प का सबध जनताके धार्मिक आचारों और कृत्यों से रहा है अत वह ब्रिटिश सौदागरों तथा मिल मालिकों के द्वारा प्रचारित नमूनों से अप्रभावित रहे। अतएव जब हम हस्तशिल्प-वस्तुओं के पुनरुत्थान की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य हस्तशिल्पों और समाज के प्रगतिवादी शिक्षित वर्ग के बीच सपर्क स्थापित होने से है। नवीन युग की माग के अनुकूल धार्मिक या आचार के आग्रह से मुक्त नवीन ढग के उत्सवों की आवश्यकता का अनुभव करने की दृष्टि और प्रतिभा रवीन्द्रनाथ में थी। अतएव जो ऋतु उत्सव आदि मनाने

की प्रथा रवीन्द्रनाथ ने प्रारंभ की, वह लौकिक थी तथा प्राचीन धार्मिक संस्पर्श से मुक्त थी। इन उत्सवों में हस्तशिल्पों की वस्तुओं का उपयोग होता था, जिससे इन उत्सवों के द्वारा अप्रत्यक्षरूप से शिल्पों को प्रोत्साहन मिला। इस संदर्भ में तीन व्यक्तियों के नाम स्मरण रखने योग्य हैं—वे हैं—आचार्य क्षितिमोहन सेन, संगीतज्ञ दिनेन्द्रनाथ ठाकुर और शिल्पाचार्य नंदलाल वसु। इन तीन प्रतिभाओं ने इस प्रकार के आधुनिक उत्सवों को लोकप्रिय बनाने के लिए बहुत कार्य किया। ऋतु-उत्सवों, नृत्य-नाटकों और संगीत के माध्यम से रवीन्द्रनाथ ने संस्कृति और परिष्कृति के नए युग का आरंभ किया, जिसने शिक्षा के पुराने विचारों में परिवर्तन किया। जिन उत्सवों का आरंभ रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने किया, उन पर उनकी प्रतिभा की छाप थी तथा आनंद के माध्यम से सृजनात्मक शिक्षा के उनके सिद्धान्त के अनुरूप था।

आधुनिक वास्तुकला द्वारा निर्मित आधुनिक समाज में रवीन्द्रनाथ के प्रयास स्थायी भले ही न रहे हों, किन्तु स्थायित्व का प्रश्न बिल्कुल दूसरी बात है। व्यक्तिगत रूप में या सामाजिक रूप में रुचि पर जिस बातका निर्णायक प्रभाव पड़ा है, वह है लोकशिल्प; जहाँ लोकशिल्प अनुपस्थित है, वहाँ जनरुचि को मोड़ने के लिए उसका स्थान उद्योग ले लेता है। यह एक तथ्य है कि उच्चस्तरीय ललित कलाएं साधारण समाज को प्रभावित नहीं कर सकतीं। किन्तु हस्तशिल्प की वस्तुओं में सौंदर्य और उपयोगिता का समन्वय रहता है। ललित कलाओं और हस्तशिल्प के बीच की दरार आधुनिक कला से संबंधित अनेक जटिल समस्याओं के लिए उत्तरदायी है। इस समस्या को सुलझाने का प्रयास जर्मनी के बाउहाउस स्कूल में किया गया था। समस्या के हल के उनके ढंग को समझने के लिए नीचे लिखा उद्धरण सहायक होगा; "हम कारीगरों का एक नया दल संगठित करना चाहते हैं जो वर्गभेद के अहंकार से दूर होगा जो कलाकार और कारीगर के बीच दीवार खड़ी करता है।"

रवीन्द्रनाथ की प्रेरणा और नंदलाल की कलात्मक प्रतिभा ने भारतीय शिल्पों को पुनर्जीवित किया। कलाकार और कारीगर के बीच की दीवार को यह पुनर्जागरण ढहा सकने में समर्थ होगा तथा कला या शिल्प के प्रचार प्रसार में उसका क्या संभावित प्रभाव हो सकता था इसमें मतभेद हो सकता है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आधुनिक भारतीय कला के इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी।

जब रवीन्द्रनाथ का अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय कलात्मक, साहित्यिक और संगीत विषयक प्रकृतियों के क्षेत्र में समृद्धतर होता जा रहा था, उस समय देश में महात्मा गांधी द्वारा प्रारंभ किया गया असहयोग आन्दोलन चल रहा था। राष्ट्रीय संग्राम और चेतना के उस समय में रवीन्द्रनाथ की अंतर्राष्ट्रीयता और कला शिक्षा को अधिकांश लोग अनावश्यक विलासिता समझते

थे। कालान्तर में महात्मा गाधी ने अपना असहयोग आन्दोलन और दण्डी यात्रा भग करके नवीन शिक्षा पद्धति की ओर ध्यान दिया। व्यावहारिक शिक्षा के माध्यम से अपनी बुनियादी शिक्षा पद्धति को कार्यान्वित करने तथा हस्तशिल्प द्वारा उत्पादित वस्तुओं के माध्यम से देश की आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त कराने के कायक्रम मे शान्तिनिकेतन के कायकर्ताओं ने जो सस्कृति और अतर्राष्ट्रीयता में विश्वास करते थे, गाधीजी की सहायता की। आधुनिककला के इतिहास मे नदलाल का गाधीजी के सपर्क में आना महत्वपूर्ण घटना है। इस सपर्क से शान्तिनिकेतन के शिक्षासबधी प्रयोगों पर ध्यान केंद्रित हुआ। यह कहा जा सकता है कि गाधी जी के सरक्षण ने आधुनिक कलाकारों को आत्मविश्वास प्रदान किया।

कला को नवीन धारा का सबध शान्तिनिकेतन से जुडा था। दूसरी ओर ओरिएटल आर्ट सोसायटी पुनरुज्जीवन मे विश्वास करती थी। विचित्रा सभा का अत और सोसायटी के नए प्रयास का प्रारभ एक साथ हुए। यह स्मरण रखना चाहिए कि शान्तिनिकेतन के कलाभवन मे तथा ओरिएटल आर्ट सोसायटी मे अध्यापन एक साथ आरभ हुआ। उस समय सोसायटी का प्रबध एक बैठकखाने (salon) के समान था। उस समय कलकत्ता में और ऐसा कोई स्थान नहीं था जहाँ कलाकार अच्छी सख्या में आपस में मिल सकें और चर्चाकर सकें। यह पहले ही सकेत किया जा चुका है कि युद्ध के दिनों मे सोसायटी के कुछ कलाकार जापानी कला की शैली और रुचि से बहुत प्रभावित हुए थे। इन कलाकारों ने सोसायटी के अतिम वर्षों मे उसे बहुत प्रभावित किया। १९१८ और १९३० के बीच में अधिकाश कलाकार ओरिएटल आर्ट सोसायटी के सदस्य बन चुके थे। प्राय वे अपनी रुचि पर ही निर्भर रहते थे और सभी प्रकार की नवीनता के विरोधी थे। अत उनके कार्य में विकास के लिए कोई अवसर ही नहीं था। केवल कुछ विरल उदाहरण ऐसे मिलते हैं, जिनमे नवीन कल्पना अथवा सरलता और स्वाभाविकता के लाने के प्रयास का आभास मिलता है, किन्तु उसका विकास नहीं दिखता। उस समय के कलाकारों पर क्षितीन्द्रनाथ का प्रभाव सबसे अधिक था। यद्यपि क्षितीन्द्रनाथ का प्रभाव बहुत शक्तिशाली था, किन्तु कलाकार अपनी रुचि और क्षमता का अनुसरण करने के लिए पूर्ण स्वतत्र थे और जापानी या पश्चिमी कला परपरा से प्रेरणा पाने के लिए भी उन्मुक्त थे। हमे नहीं लगता कि अवनीन्द्रनाथ ने इन कलाकारों को, जो अवनीन्द्रनाथ के अनुयायी कहे जाते हैं, प्रभावित किया। अवनीन्द्रनाथ ने स्वय यह अनुभव किया कि सोसायटी का कार्य बहुत सकरा हो गया है। इसी कारण कुछ समय के लिए उन्होंने कला प्रदर्शनियाँ बद करने का विचार किया था। किन्तु इस विचार को कार्यान्वित नहीं किया। साथ ही उन्होंने अपने प्रारभिक अनुयायियों से शिल्पों की उन्नति के लिए प्रयास करने के लिए कहा था।

सोसायटी के कलाकारों को सफलता प्राप्त हुई हो या नहीं, किन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जनता में भारतीय कला को लोकप्रिय बनाने की दिशा में सोसायटी ने बहुत बड़ा कार्य किया। सोसायटी के दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य हैं—भारतीयता से प्रेरणा प्राप्त करनेवाले कलाकारों की कृतियों की प्रदर्शनियों का आयोजन करना तथा अर्धेंदु गंगोपाध्याय के संपादकत्व में 'रूपम्' पत्र का प्रकाशन।

यह कहना वास्तव में कठिन है कि अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल तथा अन्य कलाकारों की कलाकृतियाँ वार्षिक प्रदर्शनियों में सोसायटी के कलाकारों का ध्यान आकर्षित करने में सफल क्यों नहीं हुईं और वे रूप सृष्टि के प्रति इतने उदासीन क्यों थे।

सोसायटी से प्रभावित या सोसायटी के समय में कला की शिक्षा पानेवाले प्रमुख कलाकारों में देवीप्रसाद रायचौधुरी, वीरेश्वर सेन, सोमलाल साहा, चैतन्यदेव चैटर्जी, मनीषी दे, गोपाल घोष, तथा कुछ अन्य थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध देवीप्रसाद रायचौधुरी हैं। वे बहुमुखी प्रतिभा संपन्न हैं, वे चित्रकार, मूर्तिकार, तथा लेखक हैं, प्राचीन संगीत के वे अच्छे ज्ञाता हैं, अपनी नाना कला प्रवृत्तियों के माध्यम से उन्होंने एक प्रकार के यथार्थवाद की अभिव्यक्ति की है जो उनका अपना निजी है। १९२०-१९२५ के बीच की अवनीन्द्रनाथ की कृतियों से देवीप्रसाद काफी प्रभावित हुए। इस प्रभाव के अतिरिक्त जापानी चित्रों से भी वे प्रभावित हुए तथा अंग्रेजों के पानी के रंगोंसे बने चित्रों की विशेषताओं को भी उन्होंने अपनाया। उनके चित्रों में उन्नत स्वच्छंदवादी तत्त्व मिलते हैं। पानी के रंगों तथा तैलरंगों से बने उनके भूदृश्य-चित्रों में तथा आकृति चित्रों में कलाकार का झुकाव स्वच्छंदवातावरण और स्थितियों की ओर ही स्पष्ट दिखता है।

उस काल में नाना विरोधी शक्तियाँ कार्य कर रही थीं और इन नाना संघर्षों में से एक का परिचय १९२० से १९२५ के बीच गगनेन्द्रनाथ के cubism में मिलता है। उनका प्रारंभ से ही अवनीन्द्रनाथ के कला आन्दोलन के साथ संपर्क रहा। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि उनकी गणना अवनीन्द्रनाथ के अनुयायियों में नहीं होनी चाहिए, यद्यपि वे नाना प्रकार से कलाकारों की नई पीढ़ी की सहायता कर रहे थे। संक्षेप में कला के नवीन उत्थान के वे प्रबल समर्थक थे, किन्तु चित्रकार की हैसियत से उन्होंने अपने को उसके बाहर रखा। गगनेन्द्रनाथ ने चित्रकला कुछ दिन सीखी, किन्तु अंग्रेजी पानी के रंगों के चित्र जापानी स्याही के रेखाचित्र तथा लिपिकला आदिका अध्ययन करके उन्होंने अपनी अलग शैली बना ली थी। उन्होंने अनेक भूदृश्य चित्रित किए, स्याही से बहुत से रेखांकन किए, तथा व्यंग्यात्मक और सुधार विषयक व्यंग्यचित्र प्रकाशित किए। इस बहुमुखी प्रतिभा संपन्न

कलाकार की प्रतिभा की ये कृतियाँ मूल्यवान साक्षी हैं। यहाँ हम उनकी कृतियों के अंतिम पद की चर्चा करेंगे जो cubism के नाम से प्रसिद्ध है।

इसमें सन्देह नहीं है कि गगनेन्द्रनाथ को फ्रांसीसी क्यूबिज्म से प्रेरणा मिली। किन्तु सूक्ष्म परीक्षा करने से ज्ञान होता है कि क्यूबिज्म के विशुद्ध रूपों का अनुसरण उन्होंने नहीं किया। गगनेन्द्रनाथ ने प्रकाश और छाया के विस्तार का समावेश किया। गगनेन्द्रनाथ के प्रारम्भिक काल के चित्रों में प्रकाश और छाया की अविच्छिन्न स्थिति मिलती है। पीछे, उन्होंने अपनी नई शैली का प्रयोग करके एक नई सृष्टि की, जो आंशिक अति यथार्थवादी है और आंशिक रूप में क्युबिस्टिक (cubistic)। संक्षेप में गगनेन्द्रनाथ की ये कृतियाँ उनके अत्यंत व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की उपज थीं। पूर्व या पश्चिम की किसी धारा का अनुसरण करने के लिए गगनेन्द्रनाथ अत्यधिक व्यक्तिवादी थे। तथाकथित क्युबिज्म गगनेन्द्रनाथ की स्वयं निज की सृष्टि थी। यह असाधारण जैसी बात थी, जिससे आधुनिकता की सूचना मिलती है।

जब बंगला साहित्य में 'प्रगतिवादी आन्दोलन' की धूम मची थी, कला के क्षेत्र में जामिनी राय ने पदार्पण किया। वे कलकत्ता आर्ट स्कूल के विद्यार्थी थे तथा योरोपीय शैली की शिक्षा पाई थी। प्रारंभ में वे अवनीन्द्रनाथ की शैली के चित्रकार के रूप में प्रसिद्ध हुए, किन्तु बाद में उनकी शैली में एकाएक परिवर्तन हो गया। एक विशेष भावना और मन्तव्य से प्रेरित होकर वे बंगाल की लोकचित्रकला के पुनरुज्जीवन की ओर मुड़ गए और लोककला शैली के चित्र बनाने लगे। बंगाली लोक कला और उसके अनुकरण से नगर (कलकत्ता) के कलापारखी अभिभूत हो गए विशेषकर के 'पट' के अनुकरणों के चित्रों से। जामिनी राय की कला ने उन्हें ग्रामीण बंगाल की आत्मा से परिचित कराया। हमें कहना चाहिए कि जामिनी राय की लोकप्रियता ने उनकी सच्ची प्रतिभा को आच्छन्न कर दिया। जामिनी राय ने लोककला के अलंकरण तत्त्व को ग्रहण किया और आधुनिक कला में उसका समावेश किया। बायजेंटाइन कला से सामग्री लेकर उन्होंने इस अलंकरण को और भी समृद्ध किया। कारीगर जैसी उनकी क्षमता असाधारण है। बहुत ही आसानी से वे किसी भी जटिल शैली को हृदयंगम कर सकते हैं। अपनी कला के इस विशेष गुण का विविध कालों में बड़ा सफल प्रयोग उन्होंने किया है।

उनका उद्देश्य बंगाल के 'पट' और 'पट' परंपरा को अपनी पूर्ण विशुद्धता के साथ जीवित रखना था। इस आदर्श के प्रति निष्ठावान् बने रहने में कलाकार को भीषण दरिद्रता और कठिनाई का सामना करना पड़ा। जामिनी राय के आदर्श को सफलता नहीं मिली क्योंकि प्राचीन ग्राम्य समाज और संस्कृति से समन्वित लोककला को मौलिक परिष्कृत आधुनिक

नगर के जीवन के वातावरण में जीवित बनाए रखना संभव नहीं है। जामिनी राय बंगाल में एक नवीन कला समीक्षक वर्ग की समीक्षा के लक्ष्य हो गए। कालान्तर में 'प्रगतिवादी' लेखकों ने जामिनी राय को प्रगतिवादी कलाकार के रूप में स्वीकार कर लिया। वह ऐसा समय था जब कि 'प्रगतिवादी' लेखक और आलोचक १९ वीं शती से संबंध रखनेवाली किसी कला या साहित्य का स्वागत करने के लिए इच्छुक नहीं थे। उस समय की आलोचना का एक नमूना देखा जा सकता है :—

"प्रेरणा के विशद विस्तार तथा शैली की विविधता के फलस्वरूप अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने उन लोगों को भी अपनी कला की प्रशंसा करने के लिए बाध्य किया है, जो साधारण तथा उनके प्रति उदासीन हैं।

नंदलाल वसु के चित्रों में हमारी सांस्कृतिक समस्याओं के पहलू प्रायः प्रतिविंवित दिखते हैं। किन्तु जामिनी राय कालसीमाहीनता (timelessness) में चित्र बनाते हैं।

योरोप की आधुनिक प्रवृत्तियों के अधिक परिचय से वे पिकासो और उत्तर प्रभाववादियों को भी जान सकते थे।"

जीमिनी राय की प्रसिद्ध आज अपनी एक विशेष शैली के प्रारंभकर्ता के रूप में है। अवनीन्द्रनाथ के पश्चात् कला के क्षेत्र में जो नाना प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं यदि उनके वीच जामिनी राय को रखकर देखें तो उनमें अवनीन्द्रनाथ की परंपरा अग्रसर हुई दिखती कही जा सकती है, यद्यपि इस विषय में अंतिम निर्णय भविष्य ही दे सकेगा।

प्रथम महायुद्ध के बाद कला और साहित्य के क्षेत्र में जो नवीन प्रवृत्तियाँ दिखीं, उनका पूरा विकास १९३० और १९४० के बीच के वर्षों में दिखता है। जैसे जैसे समय बीतता गया कला के वे आदर्श जिन्होंने कलाकारों को १९०५ के आसपास प्रभावित किया था दूर-पृष्ठभूमि में छिप गए। यह परिवर्तन अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल तथा शान्तिनिकेतन से निकलनेवाले कलाकारों की पीढ़ी में यह परिवर्तन लक्षित होता है।

अवनीन्द्रनाथ की पूर्व काल की कृतियाँ तथा पीछे की कृतियाँ जो सहस्ररजनीचरित्र चित्रमाला, अन्नदामंगल कविकङ्कण चित्रमाला और अंत में काटुम कुटुम खिलौनों की सृष्टि के माध्यम से विकसित हुईं और उनमें जो शैलीगत परिवर्तन लक्षित होता है, इनका पूर्ण और विस्तृत अध्ययन अभी नहीं हुआ है। सहस्ररजनीचरित्र चित्रमाला का अवनीन्द्रनाथ पर यथार्थवाद के प्रभाव के एक उदाहरण के रूप में उल्लेख किया जा सकता है। एशिया के कलाकार बहुत ही विरल हैं जो के रंग के योरोपीय ढँग का पूर्ण प्रभाव के साथ प्रयोग कर सके हैं। इस दृष्टि से अवनीन्द्रनाथ वास्तव में अद्वितीय हैं। जिस प्रकार रवीन्द्रनाथ की

अन्तिमकालीन कृतियों में एक नवीन विषय प्रधान दृष्टिकोण दिखता है, उसी प्रकार अवनीन्द्रनाथ के काटुम कुटुम खिलौनों में नवीन दृष्टिकोण दिखता है। इसी प्रकार नदलाल के पहले और पीछे की कृतियों में प्राप्त होनेवाले परिवर्तन अध्ययन की अपेक्षा रखते हैं। राष्ट्रीय और पौराणिक विषयों तथा नेपाल और वगाल की अलकरण शैली से लेकर सहज और आकृतिमूलक तत्त्वों से युक्त अधिकाधिक अनुकृति प्रधान रचनाओं तक निस्सन्देह एक विशाल परिवर्तन है। नदलाल ने चीनी लेखन-पद्धति को रूपान्तरित करके आधुनिक कला-रूप को अधिक शक्तिशाली और गतिशील बनाया, यह हरिपुरा काग्रेस के नामसे प्रसिद्ध चित्रों से प्रकट होता है। अवनीन्द्रनाथ तथा नदलाल की पीछे की कलाकृतियों में प्रारम के भावात्मक, राष्ट्रीयतामूलक आदि अभिप्राय नहीं मिलते। यद्यपि आधुनिक कला में पुनरुज्जीवन नहीं दिखता, यह कहा जा सकता है कि परपरावादी भारतीय कला के मूल तत्त्व इसमें आ गए हैं और इसका श्रेय अवनीन्द्रनाथ और नदलाल की प्रतिभा को है। नदलाल के पश्चात् जो कलाकार आए उन्हें चित्रकला और मूर्तिकला के क्षेत्र में अमूर्तशैली भी मान्य थी।

१९३७ के आसपास कलकत्ता में आधुनिकवादी धारा का प्रारम हुआ। कलकत्ता के कलाकारों के एक दल ने 'विद्रोही-केंद्र' की स्थापना की। किन्तु प्रगतिवादी के नामसे प्रसिद्ध प्रयत्न आदोलन का आरम १९४० में कलकत्ता में हुआ। कलकत्ता के इन कलाकारों ने ही बबई के कलाकारों को भी प्रभावित किया।

१९४० में वगाल के कलाकार पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही कला परपराओं की विभिन्न प्रवृत्तियों को हृदयगम कर चुके थे और अपनी एक निश्चित शैली बना चुके थे, इसी समय बबई के कलाकारों ने 'आधुनिकवाद' का एक नया अध्याय प्रारम किया। बबई आर्ट स्कूल के आधुनिकवाद के विकास की समीक्षा करने के पूर्व १९ वीं शती की उपनिवेशीय कला परपरा का परिचय प्राप्त करना प्रासगिक होगा।

जानकवि के प्रेमाख्यानों में छंद योजना

रामकिशोर मौर्य

संस्कृत तथा पाली साहित्य में वर्णिक छंदों का ही प्रयोग होता था जबकि प्राकृत तथा अपभ्रंश के कवियों ने अपनी रचनाओं के अनुसार वर्ण वृत्तों के साथ मात्रिक छंदों का उल्लेख किया और छंदों को तुकान्त रूप दिया। आगे चलकर समस्त संत, भक्त तथा प्रेमाख्यानक कवियों पर इनका सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। अन्य प्रेमाख्यानक कवियों की भांति जानकवि (न्यामत खाँ) ने भी अपने समस्त ग्रंथों में फारसी बहरों को न अपना कर अपभ्रंश के चरितकाव्यों, धर्म-कथाओं तथा सहजयानी सिद्धों—सरहपाद एवं कृष्णाचार्य के ग्रथों में उपलब्ध दोहा-चौपाई छंदों को ही सर्वाधिक उपयुक्त समझा। ये युग्म छंद कथा प्रधान वर्णनात्मक प्रबंध काव्यों को अपेक्षित गति एवं प्रवाह देने में पूर्ण समर्थ रहे हैं। अपभ्रंश के चरित-काव्य कडवक-बद्ध हैं। पद्धड़िया, पज्झटिका या अरिल्ल के बाद एक घत्ता जोड़कर कडवक पूरा होता है। कडवक के समूह को 'संधि' कहते हैं। ये अरिल्ल ही चौपाई के पूर्व रूप हैं। कथा साहित्य में इनका खूब प्रयोग हुआ है। यद्यपि अपभ्रंश में ध्रुवक के रूप में घत्ता के स्थान पर दोहे का व्यवहार नहीं के बराबर था, फिर भी कुछ इने गिने स्थानों पर इनका प्रयोग मिलता है, इसलिए ध्रुवक के रूप में दोहे का प्रयोग अपभ्रंश कवियों के लिए अपरिचित नहीं था। कदाचित् पूर्वी प्रदेश के कवियों द्वारा दोहा-चौपाई से बने कडवकों का प्रयोग शुरू हो गया था और दोहे में कुछ स्वतंत्र काव्य भी रचे गए। इस तरह दोहा और चौपाई के माध्यम से काव्य के लिखने की शैली का मूल स्रोत अपभ्रंश साहित्य ही है। सम्भव है कि अपभ्रंश में इनका स्रोत लोक-साहित्य के आधार पर हुआ हो।

दोहा-चौपाई के अतिरिक्त कवि ने वर्णनों के परिप्रेक्ष्य में कथाकलावंती, कथामधुकर-मालती, कथाकवलावती, कथाकनकावती, कथानलदमयंती, कथासतवंती, कथाकुलवंती तथा ग्रंथ लैलैमजनूं में दोहे के स्थान पर या दोहे के साथ सोरठा, सवैया या पवंगम छन्दों का उल्लेख किया है। जिस तरह पुष्पदंत की कृतियों, कुमारपाल प्रतिबोध, नयनंदि के सुदर्शन-चरित तथा लाखू के जिनदत्त-चरित में कवियों ने अपनी कुशलता प्रकट करने के लिए विविध छंदों को प्रयुक्त किया है, उसी प्रकार छंदों की बहुज्ञता प्रदर्शित करने के लिए जानकवि ने भी अपने संगति प्रधान प्रेमाख्यान 'कथा कौतूहली' में उक्त सभी छंदों के अतिरिक्त ३३ अन्य

छदो का उल्लेख किया है।१ उक्त समस्त छन्दों के अलावा प्रेमाख्यानों के अतिरिक्त अन्य ग्रथों में वखा, मोदक, फारसीमति, फुनिग तथा बुढदल भी प्रयुक्त हुए हैं। कथामधुकर माल्ती, कथाकामरानी वा पीतमदास, कथामोहनी, कथासुभटराइ, तथा ग्रथ लैलैमजनू जैसे प्रेमाख्यानों का प्रारम्भ दोहो से तथा शेप सभी का चौपाइयों या चौपइयो से हुआ है।

इनके प्रयुक्त समस्त मात्रिक छदो को हम चार वर्गों में रख सकते हैं—समचतुष्पदी, अर्द्धसमचतुष्पदी, मिश्रित तथा नवविकर्षाधार जैसे नवीन छद। कवि ने समद्विपदी, तथा विपम द्विपदी या चतुष्पदी छदों का प्रयोग नहीं किया है। अपभ्रश कवियों की भाँति समचतुष्पदी का प्रयोग द्विपदी के समान किया है। समचतुष्पदी के अन्तर्गत पजा, विजोहा चदामाला, सीमाण, फारसीमती, धवल, चौपाई या चौपई, अरिल, मरिल, पद्धरी, बीजूमाला बधा, पाइक, चदाणा, पवगम, रासा, वाराइ, गैणद, रोडढ़क, ताणी, त्रिभगी आदि छद हैं। कवि का पजा छद 'छदोहृदयप्रकाश'२ तथा 'छदप्रभाकर'३ मे वर्णद्विसम छदों के अन्तर्गत प्राप्त रजा या पजा छद से बिल्कुल भिन्न है। इसके लय एव मात्रा का साम्य आचार्य केशव के 'शशिवदना' नामक छद से है।४ अपभ्रश साहित्य में 'विजोहा' का उल्लेख नहीं मिलता। अनलम्बक छद से इसका साम्य है। 'चदामाला' में १० मात्राएँ तथा अत में गुरु (ऽ) है। इस छद का सोभाराजी, कुमारललिता, दीप, ज्योति, नयन आदि से साम्य है। 'सीमाण' मे ११ मात्राए तथा अत मे गुरु (ऽ) है। समानिका, भव, शिव प्रात तथा अहीर भी ११ मात्राओं के छद हैं। कवि का 'फारसीमति' छद विधाता छद है। इसका अधिकांश प्रयोग गीतों के लिए होता है। जानकवि ने इसका उल्लेख प्रेमाख्यानक काव्यों में न करके ग्रथसिप, चेतननामा तथा सुधासिप में किया है। एक उदाहरण देखिए—

सुमिर निस दिन निरजन कौ। कहा तुम जपहु अजन कौ॥
कलपु लप कोट भजन रे। निरजन रे निरजन रे॥ (सिपग्रथ)

---

१. कवित्त-छप्पय, रिल, गैणद (गैनद या गौराद), त्रोटक, वारी, बीजूमाला, भुजग-प्रयात, झमका, भुजगी, नराइ, पवानी, कवला, तारीपद्धड़िया, त्रिभगी, चदाणा, ताणी, विजोहा, रासा, रोडढ़क, धवल, अरिल, मरिल, गाघणा, पजा, चावर, सीमाण, लीलासिरपा, पद्धरी, चदामाला, पाइक, गीतक, बधा तथा वाराइ।

२ सम्पा० विश्वनाथ प्रसाद—पृ० ७१, १९५९ ई०।

३ जगन्नाथ प्रसाद भानु—पृ० २२५, १९२२ ई०।

४ सम्पा० लाला भगवानदीन—केशव कौमुदी (भाग १) पृ० १६१, स० २०१३।

धवल में १५ मात्राएं हैं। छंदोहृदयप्रकाश में इससे भिन्न २० मात्राएं हैं। डा० रामसिंह तोमर के अनुसार अपभ्रंश का कवि जब किसी छंद का प्रयोग किसी की कीर्ति आदि वर्णन के लिए करता है तब उसका नाम धवल हो जाता है। छंद-शास्त्रियों तथा पुष्पदंतादि अनेक कवियों ने प्रकारान्तर से इसका खूब उल्लेख किया है।५

अरिल, मरिल, पद्धरी, बीजूमाला, बधा तथा पाइक १६मात्राओं के छंद हैं। अरिल या अरिल्ल तो चौपाई का पूर्व रूप ही है। बीजूमाला को तो आचार्य भानु ने चौपाई का एक भेद बताया है। चंदाणा, पवंगम तथा रासा २१मात्राओं के और बाराइ, गैणद तथा रोड्ढक २४ मात्राओं के छंद हैं। रासो ग्रंथों में रासा छंद का खूब उल्लेख हुआ है। आधुनिक युग के पंत, भगवतीचरण वर्मा आदि कवियों ने खूब प्रयोग किये हैं। बाराइ छंद का 'सारस' से साम्य है। गैणंद छंद के लिए कवि ने गौराद तथा गैनंद जैसे अन्य नामों का भी उल्लेख किया है। इसका साम्य 'रूपमाला' छंद से है। राड्ढक तथा ताणी ३० मात्राओं के छंद हैं, जो क्रमशः रोला तथा ताटंक हैं। ३०मात्राओंवाली लावनी भी प्रसिद्ध ताटंक ही है। जानकवि के 'कथा कौतूहली' में बारहमासा के अन्तर्गत भादौं मास के वर्णन में इसका प्रयोग देखिए—

भयौ भादुवा निस अंधियारी, स्याम घटा नारी डरपै।
तैसी ये पिक कौकिल बोलै, तैसी ये कौंधा तरपै॥
तैसौई गहरौ घन घहरै, सुनि कौतूहल थहरावै।
सरबंगी बिन नाहि उमंगी, अनंग अंग अंगिया लावै॥

प्रायः कवि ने इन सभी छंदों में मात्राओं की स्वच्छंदता दिखाई है। मात्राओं की यह उन्मुक्तता पृथ्वीराजरासो तथा अन्य चरित-काव्यों में भी मिलती है। बहुत कुछ सम्भव है कि कवि ने इसी का अनुगमन किया है।

चौपाई या चौपई तो हिन्दी का सर्वाधिक प्रसिद्ध छन्द है। इसका उल्लेख अपभ्रंश युग से ही मिलता है। अपभ्रंश के विनयचन्द्र तथा नेमिनाथ की चउपई तो इसीके पूर्व रूप हैं। जानकवि ने 'कथामोहनी' को छोड़कर अपने समस्त प्रेमाख्यानों में इस छंद का उल्लेख किया है। यद्यपि कवि ने चौपाई तथा चौपई में कोई भेद नहीं किया है और न इनका कोई निश्चित क्रम रखा है। दोनों मिल-जुलकर व्यवहृत हुए हैं। मात्राओं का भी पूरा ध्यान नहीं रखा है। १६मात्राओं के स्थान पर १७ या १८मात्राएँ भी मिलती हैं,

---

५. प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य—पृ० २४४, १९६४ ई०।

पर ऐसे दोष इने-गिने ही हैं। मात्राओं के नियमों का यह व्यतिक्रम तो जायसी तथा तुलसी जैसे महान कवियों में भी मिलता है।

कथाकलावंती, कथाकौतूहली तथा ग्रथ लैलैमजनू में चौपाई की अर्द्धालियों का कोई क्रम नहीं है। इनकी सख्या घटती वढ़ती रहती है, किन्तु शेष समस्त प्रेमाख्यानों मे अर्द्धालियों का एक निश्चित क्रम रहा है यद्यपि सभी प्रेमाख्यानों मे इनका एक जैसा क्रम नहीं है। कथारूपमजरी, कथापुहुपवरिषा, कथारतनमजरी, कथाशीलवती, कथासतवती, कथाकुलवंती, कयाकामलता और कथाकनकावती में पाँच, कथाकवलावती तथा कथानिरमल में छ, कथा खिजरखा देवलदे, कथा अरदसेरपतिशाह तथा कथानलदमयती मे आठ, कथाछीता, कथाछविसागर, कथासुभटराइ, कथाहनवावती तथा कथाकलदर में दस, कथाचन्द्रसेन राजाशीलनिधान में वारह कथाकामरानी वा पीतमदास मे वीस तथा कथामधुकर मालती में बाइस अर्द्धालियों के समूह हैं। कथातमीमअन्सारी, कथावलूकिया विरही तथा वादीनावा में पूरा ग्रथ ही चौपाई या चौपई मे लिखा गया है। इसी तरह अन्य सूफी प्रेमाख्यानक कवियो ने जैसे दाऊद, कुतवन, मझन आदि ने पाँच भाषा प्रेमरस मे शेख रहीम ने छ, जायसी, उसमान, शेखनवी, काशिमशाह, और नसीर ने सात और शेख निसार ने अपने ग्रथों मे ८ अर्द्धालियों का क्रम रक्खा है। तुलसी ने मानस में ९ अर्द्धालियो का क्रम रखा है।

अर्द्धसमचतुष्पदी छदों में दोहा, सोरठा तथा वरवा हैं। वरवा प्रेमाख्यानों में प्रयुक्त न होकर 'षट्ऋतुवरवा वध' तथा 'बरवा' ग्रथों मे प्रयुक्त किया है। सोरठे का उल्लेख परमात्म-प्रकाश आदि अपभ्रश कृतियों मे अवदोहक या सोरट्ठ नामों से मिलता हैं। जानकवि ने कथासतवती में चौपाई की अर्द्धालियों के वाद, कथाकनकावती और कथाकवलावती में बीच-बीच में दोहों के स्थान पर तथा कथाकौतूहली, ग्रथलैलैमजनू एव कथा कुलवती में यत्र-तत्र सोरठे का उल्लेख किया है। दोहा अपभ्रश का सबसे प्रिय और प्राचीन छद है। 'विक्रमोर्वशीय में इसका सबसे पुराना रूप प्राप्त होता है। जानकवि ने कथातमीमअन्सारी तथा कथाबलूकिया विरही को छोडकर अपने समस्त प्रेमाख्यानों मे दोहों का उल्लेख किया है। 'कथामोहनी' तो पूरा ग्रंथ ही १२० दोहों में है। कथाकलावती, कथाकवलावती, कथाकौतूहली, कथासुभटराइ, कथामधुकरमालती, कथा कनकावती, कथासतवती तथा ग्रंथलैलैमजनू में चौपाई की अर्द्धालियों के बाद दोहों के प्रयोग का कोई निश्चित क्रम नहीं मिलता, किन्तु इनके अतिरिक्त शेष सभी प्रेमाख्यानों में एक निश्चित क्रम की व्यवस्था है। वादीनावा मे ग्रथ के अत में केवल एक दोहा मिलता है। कवि ने कहीं-कहीं मात्राओ की स्वतत्रता भी दिखाई है, पर ऐसे स्थल बहुत कम हैं।

मिश्रित छंदों में तारी पद्धड़िया, गंघाणा, कवित्त छप्पय तथा गीतक हैं। कवित्त छप्पय को छोड़कर शेष सभी कवि के नवीन प्रयोग ज्ञात होते हैं। तारी पद्धड़िया 'सखी' छंद के प्रारम्भ की १४ मात्राओं के दो चरणों तथा पज्झटिका या पद्धड़िया की १६ मात्राओं के दो चरणों, गंघाणा २२ मात्राओं के सुखदा के प्रथम दो चरणों तथा २४ मात्राओं के 'लीला' के बाद के दो चरणों और गीतक हरिगीतिका के साथ संयुक्ता के योग से बने हैं। कथा कौतूहली में इन सब के उदाहरण मिलते हैं। गंघाणा का एक उदाहरण देखिए—

माह पूस जब लग्यौ है सीतर सलिता।
करी चिंत हैं पीरी नाहि रही कलिता॥
मलिन भये अंग अंग रही नाही ऊज्ज्वलिता।
कौतूहल दे छंली नेह सब छल बल छलिता॥

नवविकर्षाधार छंद में एक विशेष प्रकार से पंक्तियों का क्रमायोजन होता है। ये हैं तो पुरानी लय के ही छंद, किन्तु इनका अन्त्यक्रम परिसंख्यान और मात्रा क्रम नवीन होता है तथा कवि को पूर्ण स्वतंत्रता होती है। इसके समविकर्षाधार तथा विषमविकर्षाधार दो भेद होते हैं। समविकर्षाधार में समान मात्राओं के छंद प्रयुक्त होते हैं और इनकी संख्या चार चरणों से अधिक होती है। जानकवि का 'फुनिंग' ऐसा ही छंद है। यह 'विजात' छंद के आधारपर अन्त्यक्रम से विकृत किया गया है। इसमें तीन तथा दो के तुकांत से पाँच चरण और प्रत्येक में १४ मात्राएँ हैं। जानकवि ने 'बारहमासा' ग्रंथ के अन्तर्गत १५ छंदों का उल्लेख किया है। वैसे यह अरबी तथा फारसी के हज्ज छंद के मफाईलुन् मफाईलुन् की लय पर चलता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

सुमिरिहौं आदि करतारा।
रच्यौ जिन नवी उजियारा।
मिट्यौ सब जगत अधियारा॥
बड़ाई ताहि जगु मानी।
परै कल नांहि बिनु जानी॥

विषम विकर्षाधार छंद में विभिन्न परिसंख्यान के चरणों का संयोग होता है। यह मिश्र वर्ग के छंदों से भिन्न है। इसके असमान चरणों में भी लय मैत्री होती हैं। जानकवि का 'धुढ़ढ़ल' ऐसा ही छंद है इसमें प्रारम्भ में चौपाई के तीन चरण तथा बाद में चौपई के दो

चरणों को रखकर लयों का क्रम मिलाया गया है। ग्रथ दरसनाग तथा मल्कनावा में इसका प्रयोग किया है। 'दरसनाग' से एक उदाहरण देखा जा सकता है—

येक वार छवि कांति दिपाई।
तनते मन कौ ढोरी लाई।
विनु देषैं भ्रत रह्यौं न जाई॥
दयावत है इद पुजाव।
घूँघट षोलि दरस परसाव॥

इस तरह के छन्द प्राय जानकवि के पूर्व नहीं मिलते। आधुनिक युग के कवि पंत, निराला, गुप्त, प्रसाद, बच्चन आदि ने किया है।

वर्णिक वृत्तों में कवि ने वर्णो एव गुणों के प्रयोग में पूरी स्वच्छंदता का परिचय दिया है जिससे छन्द-शास्त्र की दृष्टि से ये पूरे खरे नहीं उतरते। मोदक को छोड़कर शेष सभी प्रयुक्त वर्णिक वृत्त—झमका, धारी, रिल, कवला, पवानी, त्रोटक, भुजगप्रयात, भुजगी, लीलासिरषा, नराइ, चावर तथा सवैया समचतुष्पदी हैं। झमका का 'करता', धारी का 'धरा', रिल का 'तिलक', कवला का 'कमला', पवानी का नागस्वरूपिणी, लीलासिरषा का 'विशेषक', नराइ का 'नराच' तथा चावर का 'चामर' छन्दों से साम्य है। मोदक तथा सवैया के अतिरिक्त शेष सभी वृत्तों का उल्लेख 'कथाकौतूहली' में हुआ है। मोदक चार भगण (ऽ।।) से बनता है, पर जानकवि ने चार सगण (।।ऽ) रक्खा है और चार चरण न रखकर चार तथा दो के तुकान्त से छ चरण रक्खे हैं। यह कवि का नवीन प्रयोग लगता है। 'बुद्धिदाइक' ग्रथ में ऐसे १० छद हैं। उदहरणार्थ—

जिहि नाम लये सब काज सरै।
जप तेज कटै कौ टील करै।
धन ते जु निरजन नाम ररै।
पल मैं अघ कोटक होहि परै॥
सुष कौ भरता दुष कौ हरता।
जपि रे जपि रे जपि रे करता॥

पृथ्वीराजरासो की भांति जानकवि के भुजंगप्रयात छंद में भी वर्णो एव गणों का निश्चित क्रम नहीं मिलता। 'भुजगप्रयात' २० मात्राओं का मात्रिक छद है जो कि इससे भिन्न है। यह उर्दू की बहर 'फऊलुन्, फऊलुन् फऊलुन् फऊलुन्' की गति पर आधारित है।

कवि ने अधिकतर २३, २४, २५ या ३१ वर्णों के सवैया का ही उल्लेख किया है। ३१ वर्ण का सवैया तो वर्णिक दंडक है। कथाकवलावती में दोहा तथा सोरठा के स्थान पर बीच-बीच में २३ और ३१ वर्णों के सब ७ सवैये, कथानलदमयंनी में यत्र-तत्र दोहों के साथ २३, २५ या ३१ वर्णों के सब ५८ सवैये, ग्रंथलैलैमजनूं में २५ तथा ३१ वर्णों के सब ५५ सवैये, कथाकौतूहली में सब १८ सवैये (जिसमें प्रथम १३ तक ३ वर्णों के दण्डक तथा शेष २३ वर्णों के) और कथाकलावंती में बारहमासा के अनन्तर २३ वर्ण वाली एक सवैया मिलती है। इनके सभी चरणों में गणों तथा वर्णों की स्वच्छंदता मिलती है।

इन छंदों को देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने बहुत से छंदों का नवीन नाम रखा है जिनके तीन वर्ग किए जा सकते हैं। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत उन छंदों को रख सकते हैं जिनके पूर्व प्रचलित नामों को कुछ बदलकर रखा है। यथा—सीमाण, चंदाणा, बधा, रोडढ़क, ताणी, नराइ, कवला, चावर आदि। सम्भवतः ऐसा परिवर्तन भाषाभेद और लिपि-भेद के कारण भी हो सकता है। दूसरे वे हैं जो बिल्कुल नवीन हैं। छंद-शास्त्रों में इनका नाम नहीं मिलता। यद्यपि इस वर्ण या मात्रा के कुछ छंद मिलते हैं। ऐसे छंदों में फारसीमति, वाराइ, गैणद, लीलासिरषा, झमका, रिल, पवानीं आदि हैं। तीसरे वर्ग में वे छंद रखे जा सकते हैं जो कि कवि के बिल्कुल नवीन प्रयोग लगते हैं। जैसे—तारी पद्धड़िया, गंधाणा, तथा गतिक जैसे मिश्रित छंद, षट्पदी रूप में मोदक का प्रयोग और फुनिंग तथा घुढढल जैसे विकर्षाधार छंद।

इस तरह समस्त प्रेमाख्यान-साहित्य में अन्य कवियों से भिन्न इतने अधिक छंदों का उल्लेख कवि की ही कला प्रियता तथा छंद शास्त्र में पारंगत होने का द्योतक है।

ग्रंथ समीक्षा

इन्त्रोदुक्स्यों ए लेतुद द लार्त द लिंद (भारतीय कला के अध्ययन की भूमिका) लेखिका ज्यानिन औवोये, सेरिए ओरिएताले रोमा ३१ वीं जिल्द, इस्तीतूतो इतालियानो पेर इल मेदिओ एद एस्त्रेमो ओरिएते, रोमा, १९६५ पृष्ठ सख्या १३८, चित्र सख्या ७३ मूल्य — लीरा, ५००० ।

पेरिस के गीमे सग्रहालय (Musee Guimet) की प्रधान क्यूरेटर कुमारी ज्यानिन औवोए भारतीय कला के इतिहास की विशेषज्ञा के रूप में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं। एचीन्क्लोपेदिया यूनीवेसलि देल्लार्ते (कला का सार्वदेशीय विश्वकोश) में अतर्भुक्त भारतीय कला के इतिहास की भूमिका के रूप में प्रस्तुत कृति का प्रणयन हुआ था। कृति की भूमिका मे यह स्वीकृत किया है कि कृति का उद्देश्य कला का विस्तृत विवेचन करना नहीं है किन्तु सक्षेप में उन तथ्यों की समीक्षा करना है, जिन्होंने भारतीय कला को प्रभावित किया है। भारतीय कला के मूल आधारों, भारतीय विचार धारा और समाज मे उसका स्थान, कला की सामान्य विशेषताओं तथा उसके विकास की सामान्य प्रवृत्तियो का विवेचनात्मक अध्ययन कृति में किया गया है। इस क्षेत्र मे कार्य करनेवाले पूर्ववर्ती विद्वानों के विचारों को अपनाते हुए लेखिका ने इन सभी पक्षों पर भारतीय दृष्टिकोण से विचार किया है।

आलोच्य कृति में पाँच अध्याय हैं। पहले अध्याय मे भारतीय कला के धार्मिक उत्स की ओर सकेत करते हुए कला के प्रारभ का विवेचन किया गया है। दूसरे अध्याय में भारतीय जीवन और विचारधारा मे शिल्पकला के स्थान की चर्चा की गई है। साहित्यिक और पुरातत्त्व विषयक दोनों ही प्रकार के प्रमाणो को आधार बनाकर कला के सामाजिक पक्ष को स्पष्ट करने का कला की भारतीय परिभाषा, तथा कलाकार का पथ प्रदर्शन करनेवाले विधि-विधानों का विवेचन किया गया है। आगे के तीन अध्यायों में भारतीय- धार्मिक वास्तुकला की सामान्य विशेषताओं का, भारतीय कला में मूर्तिकला के सौंदर्य और स्थान तथा चित्रकला का विवेचन किया गया है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय वास्तु-कला के धार्मिक पक्ष को लेखिका ने अधिक महत्त्व दिया हैं फलस्वरूप वास्तु निर्माण के आचार, प्रतीकवाद, और निर्माण की विशिष्ट विधियों पर विशेष ध्यान दिया गया है। किन्तु इस विवेचन के आधार पर यह धारणा नहीं बना लेनी चाहिए की प्राचीन भारत मे लौकिक वास्तुकला के नमूने थे ही नहीं। यह देखकर विस्मय हुआ कि सारनाथ के धमेख स्तूप पर अकित अलकरण (पृ० ७७ फलक ३७) ईट चूने से बने है। जहाँ तक हमें ज्ञान है स्तूप के सामने की ओर पुष्पों और रेखाओं के अलकरण चिन पत्थर पर बनाए गए हैं। प्राचीन भारत में मदिरों की निर्माण शैलियों को लेखिका ने तीन वर्गों में विभाजित किया है जो उचित ही हैं—अर्थात् नागर, वेसर और द्रविड़। इन शैली प्रकारों के भौगोलिक विभाजन के स्वीकृत आधार के प्रतिकूल द्रविड़ शैली का विस्तार क्षेत्र विध्य पर्वतमाला से कृष्णा नदी तक माना है और वेसर शैली का विस्तार कृष्णा से लेकर कन्याकुमारी (पृ० ८१) तक माना है। लेखिका के इस मत से सहमत होना कठिन है जहाँ वह कहती हैं कि बुलन्दीबाग में प्राप्त लकड़ी के मोटे तख्ते अशोक कालीन

(चित्र १) हैं। प्रायः विद्वान इनका संबंध मेगस्थनीज द्वारा वर्णित चन्द्रगुप्त के प्रासाद के वर्णन से स्थापित करते हैं। जहाँ तक मूर्तिकला का संबंध है कृति को पढ़ने से लगता है कि प्रत्येक क्षेत्रीय धारा की सामान्य विशेषताओं का विवेचन बहुत संक्षेप में किया गया है। कला की विभिन्न क्षेत्रीय धाराओं की शैलियों का विस्तृत विनेचन वांछनीय था और प्रत्येक भेद को स्पष्ट करने के लिए कुछ चित्र भी रहते तो अच्छा होता। अब समय आ गया है जब प्रत्येक कला केंद्र की उन्नति, प्रगति तथा ह्रास के लिए उत्तरदायी राजनैतिक तथा आर्थित पहलुओं का अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। कला की गांधार शैली का अध्ययन क्यों छोड़ दिया गया है, पता नहीं। यद्यपि गांधार भारतकी आधुनिक राजनैतिक सीमाओं के बाहर पड़ता है तथापि वह भारतीय सांस्कृतिक जीवन का अभिन्न अंग रहा है और विशेषरूप से मूर्तिकला के क्षेत्र में भारत में उत्तरकालीन कला के विकास को भली-भांति समझने की दृष्टि से गांधार शैली का परिचय आवश्यक है। फिर भी यह पढ़कर संतोष होता है कि लेखिका ने अनेक स्थलों पर यह बताया है कि कला के भारतीय अभिप्राय और शैलियाँ किस प्रकार भारत के बाहर पहुंचें। चित्रकला से संबंधित अध्याय में लेखिका ने भित्तिचित्र तथा लघुचित्र दोनों का विवेचन किया है। ऐसा लगता है कि अजंता के भित्तिचित्रों में अंडाकार या वृत्ताकार चित्ररचना के प्रश्न का अभी भी संतोपजनक उत्तर नहीं ढूँढा जा सकता और इस प्रसंग में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए अभी और क्रमबद्ध अध्ययन की आवश्यकता है।

अध्ययन के मूल स्रोतों के आधार का उल्लेख लेखिका ने प्रत्येक अध्याय के आरंभ में पादटिप्पणियों में किया है; तो भी कृति के अंत में विस्तृत ग्रंथ सूची दी जाती तो विशेष अध्ययन करनेवालों को सुविधा होती। कहीं कहीं टंकन की भूलें रह गई हैं जैसे; जर्नल अव द इण्डियन सोसायटी अव् ओरिएंटल आर्ट में इण्डियन के स्थान पर 'इण्डिया' (पृ० ५५) पल्लव कला के प्रसिद्ध केंद्र का नाम पुस्तक में सर्वत्र मावलिपुरम् (Mavalipuram) लिखा गया है किन्तु सही रूप होगा ममल्लपुरम् (Mamallapuram)। तोरण के विकास को स्पष्ट करने के लिए दिए गए रेखाचित्र प्रशंसनीय हैं।

भारत में कला जीवन से अभिन्न प्रक्रिया के रूप में मिलती है जो सौंदर्यमय अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्फुटित हुई। भारतीय कला भारतीय सभ्यता का दर्पण है, क्योंकि भारतीय कला भारत के धार्मिक और सामाजिक जीवन को प्रतिबिंबित करती हुई भारतीय शिष्ट-समाज में विकसित हुई है। लेखिका के ये निष्कर्ष तर्कसंगत हैं। प्रस्तुत कृति की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें उन सभी पहलुओं की समीक्षा की गई है जो भारतीय प्रतिभा की इस अद्भुत अभिव्यक्ति के निरंतर विकास में सहायक सिद्ध हुए हैं।

—कल्याण कुमार सरकार

ए स्टडी आन द रत्न-गोत्र-विभाग (उत्तर-तंत्र)—बौद्धधर्म की महायान शाखा के गर्भ सिद्धान्त पर निबन्ध, लेखक—जीकीदो ताकासाकी, सेरिए ओरिएताले रोमा, स० ३३ इस्तीतूतो इतालियानो पेर इल मेदिओ एद् एस्त्रेमो ओरिएंते, रोम, १९६६, पृष्ठ 1—xiii+९—४३९, मूल्य १६००० लीरे।

आलोच्य कृति पूना विश्वविद्यालय में डाक्टर की उपाधि के लिए प्रस्तुत तथा स्वीकृत शोध प्रबंध का परिवर्द्धित रूप है। बौद्धमत के क्षेत्र में उत्तर तंत्र को लेकर डा० ताकासाकी ने जो श्रमपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत कृति में किया है वह सराहनीय है। कृति में आलोचनात्मक प्रस्तावना, मूल कृति के पाँच अध्यायों के पाठ का विश्लेषण, संस्कृत पाठ का अंग्रेजी अनुवाद तथा तिब्बती और चीनी रूपान्तरों से तुलना, आलोचनात्मक टिप्पणियाँ तथा प्रसंगगत तिब्बती चीनी उद्धरण तथा तीन परिशिष्ट हैं, जिनमें से पहले में समाविन मूल श्लोक ग्रंथ का पाठ है, दूसरे में रत्न-गोत्र विभाग के संस्कृत पाठ से संबंधित शुद्धियाँ तथा संशोधन हैं और तीसरे में लेखक द्वारा अन्यत्र प्रकाशित एक लेख है 'महायान बौद्ध के अनुसार षड्वर्गो के द्वारा परम सत्य का निरूपण। दो सूचियों में से एक में संस्कृत शब्दों की सूची है तथा दूसरी में कृतियों, लेखकों और धाराओं के नाम दिए हैं।

डा० ताकासाकी ने पाठ की प्रामाणिकता के विषय में विस्तार से विचार किया है और मूल पाठ निश्चित करने का प्रयास किया है। मूल कृति में, उसके विभिन्न रूपान्तरों, कृति के रचयिता, उसके काल के संबंध में विचार किया है, कृति पर लिखी टीकाओं, क्षेपकों अनुवादों तथा तथता सम्प्रदाय, उत्तरतंत्र के समकालीन कृतियों की समीक्षा की है। जापानी मे तथा अंग्रेजी में प्रकाशित अपने अनेक लेखों का भी स्थान स्थान पर उन्होंने संकेत किया है। तथागत-गर्भ सिद्धान्त से संबंधित इधर उधर बिखरी हुई प्रभूत महत्त्वपूर्ण सामग्री कृति में लेखक ने एकत्रित की है और इस सिद्धान्त के विकास का इतिहास प्रस्तुत किया है।

उत्तरपक्ष का सिद्धान्तपक्ष कुछ विचित्र सा है क्योंकि यह माध्यमिकों के शून्यवाद तथा योगाचार के विशुद्ध विज्ञानवाद के बीच की संक्रमणकालीन स्थिति से संबंधित है। इसे यों कहा जा सकता है—उत्तर तंत्र में तथागत गर्भ दर्शन का स्थान एक ओर नागार्जुन और दूसरी ओर असंग तथा वसुबंधु की दार्शनिक मान्यताओं के बीच मे पड़ता है। उपनिषदों के आत्मवाद से प्रभावित मानते हुए प्रज्ञापारमिता साहित्य के आलोचनात्मक स्पष्टीकरण के रूप में तथागत गर्भ सिद्धान्त की स्थापना की गई है। औपनिषदधारा के अभिन्न-निमित्तोपादन के कारण ब्रह्म का स्पष्ट प्रभाव परवर्ती प्रज्ञापारमिता में निर्दिष्ट निर्मला तथता में दिखाई देता है जो अतीत और व्यापक दोनों हैं। निर्मलातथता सत् असत् दोनों है क्योंकि वह मलशून्य है तथा करुणापूर्ण है। अतः हमें यहाँ नास्ति, अस्ति, शून्यवाद और विज्ञानवाद के बीच अद्भुत मेल दिखाई पड़ता है। निर्मला तथता या चित्त प्रकृति (जो अश्वघोष रचित महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र की भूततथता के समान है) निर्वाण लक्ष्य (=उपेय=फल) या त्रिरत्नवाद के बुद्ध हैं जब कि समला तथता या अविद्योपाहित तथागत गर्भ (=बुद्ध-धातु=बुद्ध गोत्र) निर्वाण

बीच (उपायं) या धर्म है और बोधिचित्त जीव या सत्त्व धातु में व्यापक शुद्धचिद्—अंश के रूप में निर्वाण हेतु या संघ है। निर्मला तथता त्रिकायवाद के धर्मकाय से मिलती है। अतएव सच्चा निर्वाण जीव और परमात्मा की एकता है।

यह एकेश्वरवाद सारमती के धर्म-धात्व-अविशेषता-शास्त्र में भी मिलता है। इस तथागत गर्भ सिद्धान्त के प्रमुख तत्त्वों पर प्रो॰ ई॰ फ्राउवाल्नेर ने अपनी कृति फिलासफी अव् बुद्धिज्म में अच्छा प्रकाश डाला है। किन्तु डा॰ ताकासाकी ने उस कृति का अपनी कृति में कहीं उल्लेख नहीं किया है। कृति में कहीं कहीं छपाई की भूलें रह गई हैं। उत्तर तंत्र के अध्ययन में इस महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए लेखक धन्यवादार्ह है।

—विश्वनाथ भट्टाचार्य

साहित्य सौरभ—लेखक :-स्वर्गीय ब्रजमोहन वर्मा, संपा॰—पं॰ बनारसीदास चतुर्वेदी, प्रकाशक—ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, पृष्ठ सं॰ ३०३ ; मूल्य १२'५० पैसे।

स्वर्गीय ब्रजमोहन वर्मा (१९००-१९३७ ई॰) 'विशाल भारत' के संपादक पं॰ बनारसी दास जी चतुर्वेदी के सह-संपादक थे। चतुर्वेदी जी की छत्रच्छाया में ही वर्माजी की साहित्यिक प्रतिभा विकसित हुई और उसे पुष्पित पल्लवित होने का चतुर्वेदीजी ने पूरा अवसर दिया। साहित्य सौरभ में संग्रहीत निबन्धों के रचयिता में स्वाभाविक प्रतिभा थी किन्तु यदि चतुर्वेदीजी द्वारा निर्मित स्वस्थ वातावरण न प्राप्त होता तो यह कहना कठिन है कि वह विकसित हो पाती। कृतिके प्रारंभ में चतुर्वेदीजी तथा वर्माजी के मित्र श्रीश्यामसुन्दर खत्री ने अपनी भूमिकाओं में वर्माजी का जीवन परिचय दिया है तथा कृति के अंत में भी कुछ ऐसे परिशिष्ट दिए गए हैं जिनसे कृतिकार के जीवन और कार्यों पर प्रकाश पड़ता है। जीवन के अंतिम नौ दस वर्ष ही वर्माजी विशाल भारत में रहे और साहित्य सौरभ में लिखे निबंध, लेख प्रायः उसी काल के हैं। यदि कृति के प्रारंभ के परिचयात्मक लेख और अंत के संस्मरणात्मक परिशिष्ट कोई न पढ़कर केवल वर्माजी के लेख ही पढ़कर उनके व्यक्तित्व का अंदाज लगावे तो यह अनुमान क्या कल्पना भी नहीं की जा सकता कि वर्माजी असाध्य रोग से पीड़ित थे और यक्ष्मा से पीड़ित होने के कारण उनका निम्नांग निष्क्रिय कर दिया गया था और उनकी टांगें निःशक्त कर दी गई थीं तथा उन्हें चलने के लिए वैसाखियों का सहारा लेना पड़ता था। उनके निबंधों में विषाद की छाया भी नहीं मिलती। उस असाध्य रोग से पीड़ित क्षीण विकलांग शरीर में रहनेवाला आत्मा बलशाली था, उनका मन निर्मल और विवेकबुद्धि प्रखर थे। आत्म विश्वास की वे सजीव मूर्ति थे। इसी आत्मविश्वास के सहारे उन्होंने बर्मा की यात्रा की और अफ्रीका की यात्रा करनेवाले थे। शारीरिक दुर्बलता उनके मन को हतोत्साहित नहीं कर सकी। चतुर्वेदीजी ने वर्माजी के व्यक्तित्व के जिन पक्षोंका उद्घाटन किया है वे वर्माजी की शैली में हमें झलकते हुए, प्रतिबिंबत हुए दिखते हैं।

साहित्य सौरभ के निबंधों को पढ़ते हुए, विषयों की विविधता पर ध्यान देने पर जो बात आकर्षित करती है वह है लेखक की अध्ययनशीलता और निर्मल चरित्र महापुरुषों के गुणानुवाद की ओर झुकाव। उदारातिशय व्यक्ति का सहज स्वभाव ही है परगुणप्रशसा। वर्माजी ने महात्मा गांधी, राजेन्द्रप्रसाद, सतीशचद्र राय, भिक्षु उत्तम, निकोलस रोरिक, ब्रजनारायण चक्रबस्त, कमाल पाशा, ट्राटस्की और स्टैलिन, जवाहरलाल नेहरू, राखालदास बनर्जी, कलाकार राय-चौधुरी, दक्षिणी ध्रुव का आविष्कारक अमन सेन, जगदीशचद्र बोस, मिचूरिन आदि अनेक देश-विदेश के नाना क्षेत्रों मे प्रसिद्ध प्राप्त शलाका पुरुषों के उज्ज्वल चरित्र अत्यत प्रभावशाली शैली मे अंकित किए हैं। सक्षेप मे इन महापुरुषों के जीवन के विशेष पहलुओं का ऐसा साहित्यिक चित्रण लेखक के सही ज्ञान और शुद्धमन का परिचय देता है।

वर्माजी के लेखों मे उनके व्यक्तित्व की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता दिखती है उनकी परिष्कृत हास्य प्रवृत्ति और अहिंसक व्यग्य शैली। चतुर्वेदीजी ने भूमिका मे बताया है 'हास्य प्रवृत्ति वर्माजी के व्यक्तित्व की सबसे बडी विशेषता थी। प्राय वे स्वय भी बड़ा गहरा मजाक करते थे। उस समय वे अपनी हँसी उड़ाने में भी सकोच नहीं करते थे'। 'खुदाई का मास्टरपीस' और 'सपादक का विवाह' शीर्षक लेखों में उनकी इस प्रवृत्ति का परिचय मिलता हैं। इन लेखों में विद्रूप हास्य या किसी व्यक्ति विशेष पर छींटाकशी करके हास्य की सृष्टि नहीं की गई है। यह शिष्ट व्यक्ति निरपेक्ष हास्य है—'खुदाई का मास्टरपीस' की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

'थर्ड क्लास में सचमुच हव्वा की कही हुई हर चीज मौजूद है। । भला यह कैसे सभव था कि ऐसी अद्भुत चीज बने और वह लोकप्रिय न हो, अथवा वह केवल रेल तक ही परिमित रहे? थर्डक्लास बढ़ा और खूब बढ़ा। आज ससार मे सबसे अधिक प्रचार उसी का है। करोड़ों आदमी उसके भक्त और सेवक हैं। रेल से बढ़कर वह गाड़ी, इक्का, ताँगा, सिनेमा, वायसकोप, थियेटर—हर जगह, हर चीज मे फैल गया। आजकल की 'मन्दी ने तो उसे इतना प्रोत्साहन दिया की आज दुनिया की हर चीज थर्डक्लास बन रही है।'

वर्माजी की रुचि बहुमुखी थी। साहित्य, कला, विज्ञान, इतिहास, राजनीति, समाज-शास्त्र आदि नाना विषयो की चर्चा उनके लेखों मे मिलती है। चित्रकला उनका विशेष प्रिय विषय था। कलाकार रायचौधुरी और विजयवर्गीय की चित्रकला का परिचय उन्होंने बहुत ही प्रभावशाली ढँग से दिया है।

भाषा पर वर्माजीका असाधारण अधिकार था। स्पष्टता, प्रवाह, शब्दचयन, प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता आदि अनेक विशेषताएँ उनकी भाषा मे मिलती है। उनकी शैली प्रभावशाली है। 'हमारा पेशवा' शीर्षक निबंध मे महात्मा गाधी और राजेन्द्र बाबू के शब्दचित्र कितने मार्मिक हैं—उनकी शैली का चमत्कार द्रष्टव्य है—

'सन् १९१७ की एक रात। नौ बजे के बादका समय। बिहार प्रान्त के मोतिहारी नामक देहाती कस्बे की धुँधली सड़कपर दो लदे-फँदे देहाती पैदल जा रहे थे।

'एक का कद साधारण, शरीर दुबला, ललाट चौड़ा, बाल छोटे, आँखें चमकदार कान बड़े-बड़े और बाहर को उभरे हुए, मूछें छोटी छोटी और कटी हुई, होड़ी छोटी और भुजाएं लम्बी थीं। बदन पर गाढ़े की मोटी धोती और गाढ़े ही की चौबन्दी-मिर्जई थी।

दूसरे का कद लम्बा, माथा प्रशस्त, भौंहें घनी, आँखें गड्ढे में घुसी हुई, नाक लम्बी, गाल चपटे और मूछें बड़ी बड़ी, किन्तु बिखरी हुई और अस्त व्यस्त थीं। पोशाक में उसकी कमर में भी पहले देहाती के समान ही मोटी धोती थी। परन्तु बदन पर मिर्जई की जगह गाढ़े का कुर्ता था।

मोतिहारी की उस धुंधली रात में लदे-फदे चलनेवाले इन व्यक्तियों में एक का नाम है मोहनदास कर्मचंद गांधी और दूसरे का राजेन्द्रप्रसाद।'

वर्माजी की शैलीकार के रूप में आचार्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने बड़ी प्रशंसा की थी। अपने दिवंगत सहयोगी की रचनाओं को सम्पादित कर प्रकाशित करके पं० बनारसी दास चतुर्वेदी ने वर्माजी का साहित्यिक श्राद्ध करके अपने कर्त्तव्य का तो निर्वाह किया ही है, साथ ही हिन्दी जगत् को कृति के प्रकाशन द्वारा उपकृत किया है। 'साहित्य सौरभ' पठनीय कृति है। हिन्दी निबंध साहित्य के इतिहास में वर्माजी के निबंधों को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलेगा। विश्व-विद्यालयों के हिंदी पाठ्यक्रमों में उन्हें स्थान मिलना चाहिए। साहित्य रसिक कृति को पढ़कर आनंदित होंगे।

—रामसिंह तोमर

सूचना

इस अंक के साथ विश्वभारती पत्रिका का सातवाँ वर्ष समाप्त हो रहा है। अगला अंक आठवें वर्ष का पहला अंक होगा। पत्रिका के प्रकाशन में हम लगभग तीन महीने पीछे हैं। आगामी वर्ष में हम इस देरी को पूरा करने का प्रयत्न करेंगे और प्रत्येक अंक ठीक समय पर निकालने की चेष्टा करेंगे। हमें विश्वास है कि हमें अपने ग्राहकों, लेखकों का पूरा सहयोग मिलेगा।

प्राप्ति स्वीकृति

इस अंक में प्रकाशित शिल्पाचार्य नंदलाल वसु का चित्र हमें डा० विमलकुमार दत्त, लाइब्रेरियन, विश्वभारती के सौजन्य से प्राप्त हुआ है। हम उनके प्रति आभार प्रकट करते हैं।

—संपादक

सामयिक पत्र—पत्रिकाओं के रेजिस्ट्रेशन से सबधित केंद्र सरकार के १९५६ के ८वे नियम के अनुसार विश्वभारती पत्रिका के (फार्म स० ४) स्वामित्व आदि के सबध में विवरण।

प्रकाशन स्थान	शान्तिनिकेतन
प्रकाशन अवधि	त्रैमासिक
मुद्रक और प्रकाशक का नाम	विद्युतरजन वसु
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, बगाल।
सपादक का नाम	रामसिंह तोमर
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, बगाल।
स्वामित्व—	विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

मैं विद्युतरजन वसु घोषित करता हूँ कि उपरोक्त विवरण मेरी जानकारी तथा विश्वास के अनुसार सही है।

शान्तिनिकेतन,
१०-३-६७

विद्युतरंजन वसु
प्रकाशक